क़ानून [1]

- फ्रेडरिक बस्तियात

(हिन्दी अनुवाद - राहुल राना)

(© 2017 हिन्दी अनुवाद सर्वाधिकार - राहुल राना)

क़ानून

- फ्रेडरिक बस्तियात

क़ानून बिगड़ गया है, विकृत हो गया है, भ्रष्ट हो गया है! क़ानून, और उसके साथ-साथ, राष्ट्र की सभी सामूहिक ताकतें. मैं तो कहता हूँ कि, क़ानून, ना सिर्फ़ अपनी सही दिशा से भटक गया है, बल्कि बिल्कुल उल्टी दिशा में जाने को मजबूर कर दिया गया है! आज क़ानून हर तरह के लोभ और लालच को ग़लत तरीके से पाने से रोकने का नहीं, बल्कि हासिल करवाने का औज़ार बन गया है. क़ानून उसी ग़लत और अनैतिक काम का दोषी है जिसको रोकना इसका मिशन था! सच में, ये एक गंभीर तथ्य है, और अगर ये तथ्य वाकई में मौज़ूद है, तो अपने हमवत्नों का ध्यान इस तथ्य पर लाना मैं अपना फ़र्ज़ समझता हूँ.

हमें ऊपरवाले से एक तोहफा मिला है, और जहाँ तक हमारा सवाल है, इस एक तोहफे या उपहार में ही बाकी सभी कुछ है. ये उपहार है - ज़िंदगी - शारीरिक, दिमागी, और नैतिक ज़िंदगी.

लेकिन ज़िंदगी अपनेआप ही खुद को नहीं संभाल सकती. जिसने हमें ज़िंदगी दी है, उसने हमें इसे संभालने, विकसित करने, और उत्तम बनाने के लिए सौंपा है. उस लक्ष्य के लिए, उसने हमें बहुत सी आश्चर्यजनक ताकतें दी हैं; उसने हमें बहुत से अलग अलग तरह के तत्वों के बीच में लाकर डाला है. हमें मिली ताकतों को इन तत्वों के उपर इस्तेमाल करके, इन तत्वों तो लेकर और तरह तरह से इनको जोड़कर, जिस चक्र पर ज़िंदगी को चलना होता है, उसपर ये चलती है.

हमारा अस्तित्व, हमारी ताकतें, हमारा बाहरी तत्वों को लेकर, जोड़कर, उनको विकसित करना - या दूसरे शब्दों में कहें तो, हमारा व्यक्तित्व, स्वतंत्रता, संपत्ति - यही इंसान है.

यही तीन चीज़ें हैं जिनके बारे में ये सीधा-सीधा कहा जा सकता है कि ये मानवी (इंसानी) विधानों से पुरानी भी हैं और बेहतर भी.

हमारा व्यक्तित्व, स्वतंत्रता, संपत्ति इसलिए मौजूद नहीं है क्योंकि इंसानों ने क़ानून बनाए हैं. बल्कि हमारा व्यक्तित्व, स्वतंत्रता, संपत्ति पहले से ही मौजूद थे, और इसी के लिए इंसानों ने क़ानून बनाए. अब, क़ानून क्या है? जैसा मैंने पहले कहीं कहा है, क़ानून एक अकेले व्यक्ति की वैध सुरक्षा के लिए किया गया सामूहिक संगठन है.

प्रकृति या भगवान ने हममें से हर एक को अपने आप की (यानि हमारे शरीर की), अपनी स्वाधीनता की, और अपनी संपत्ति की रक्षा करने का अधिकार दिया है क्योंकि ये जीवन को बरकरार रखने के तीन (तीन- यानी हमारा शरीर, हमारी स्वाधीनता, और हमारी संपत्ति) घटक या तत्व हैं - ऐसे तत्व जिसमें से हर एक तत्व बाकी तत्वों के जुड़ने से संपूर्ण होता है और किसी भी एक तत्व को बाकी तत्वों के बिना नहीं समझा जा सकता है. क्योंकि, हमारी शक्तियाँ या क्षमताएँ क्या हैं? ये एक तरह से हमारे व्यक्तित्व का आयाम (विस्तार) ही तो हैं! और, संपत्ति क्या है? ये हमारी क्षमताओं का विस्तार ही तो है!

अगर हर एक इंसान को, अपने आप को (यानि अपने शरीर को), अपनी स्वाधीनता को, और अपनी संपत्ति को सुरक्षित रखने का अधिकार है (ज़रूरत पड़े तो बलपूर्वक भी), तो एक इंसानों के समूह को भी साथ मिलकर, एक सामूहिक ताकत बनाकर ये सुरक्षा करने का अधिकार है.

इस तरह, संगठित अधिकार का सिद्धांत, इसके होने की वज़ह, इसकी वैधता, व्यक्तिगत अधिकार से पैदा होती है, और सामूहिक बल का लक्ष्य एक अकेले बल (जिसकी जगह सामूहिक बल ले लेता है) का जो लक्ष्य है उसके अलावा और कुछ नहीँ हो सकता. अतः जैसे एक अकेले का बल, दूसरे इंसान को, उसकी स्वाधीनता को, या उसकी संपत्ति को क़ानूनी तौर से छू भी नहीं सकता, उसी तरह से (या उसी वज़ह से), सामूहिक बल को एक किसी भी अकेले इंसान (या इंसान समूह) को, उसकी स्वाधीनता को, उसकी संपत्ति को नष्ट करने का कोई भी क़ानूनी हक़ नहीं है.

क्योंकि इस तरह से बल का ग़लत इस्तेमाल, बल के इस्तेमाल का जो मूल आधार है, उसके विपरीत होगा. कौन है जो ऐसा कहेगा कि बल हमें अपने अधिकारों की रक्षा के लिए नहीं बल्कि हमारे अन्य भाइयों के बराबर के अधिकारों को नष्ट करने के लिए दिया गया है? और अगर ये बात हर एक अकेले प्रकार के बल के लिए सच नहीं है, तो ये बात सामूहिक बल, जो कि अकेले बलों का एक संगठन मात्र है, के लिए कैसे सच हो सकती है?

इसलिए, इससे ज़्यादा स्पष्ट कोई बात नहीं हो सकती - क़ानून हम सबकी वैध स्वरक्षा के प्रकृति-प्रदान अधिकारों का ही एक संगठित रूप है; अकेले इंसान के बल की जगह सामूहिक बल का प्रयोग, ताकि किसी भी क्षेत्र में, जिसको जो भी करने का अधिकार है, वो कर सके, अपने आप को, अपनी स्वतंत्रता को, अपनी संपत्ति को बरकरार और सुरक्षित रख सके, ताकि सब पर न्याय की छत्रछाया बनी रहे, इसको ही क़ानून कहते हैं.

और इस आधार पर अगर लोग कहीं बसें, तो मुझे लगता है कि उनके बीच एक ठीक व्यवस्था कायम रहेगी - उनके कार्यों में और उनके विचारों में भी. मुझे लगता है कि ऐसे लोगों के पास, जितनी भी कल्पना कर सकें, उतनी, सबसे सस्ती, न्यूनतम उत्पीड़क, न्यूनतम महसूस होने वाली, अधिकतम नियंत्रित, अधिकतम न्यायोचित, और इसलिए, सबसे स्थाई सरकार होगी, चाहे उसका राजनीतिक स्वरूप कुछ भी रहे.

क्योंकि इस तरह के प्रशासन में सभी को लगेगा कि उनके पास सबकुछ है और उसके साथ-साथ स्वयं के अस्तित्व की ज़िम्मेदारी भी है. जब तक स्वयं की सुरक्षा सुनिश्चित होगी, जब तक काम करने में कोई बाधा नहीं होगी, और जब तक काम का

फल किसी भी तरह के अनुचित हमले से सुरक्षित रहेगा, किसी को भी कोई ऐसे बाधा नहीं आएगी जिसके कारण उसे राज्य से संघर्ष करना पड़े. ये सच है कि जब तक हम संपन्न हैं, हमें अपनी सफलता के लिए राज्य प्रशासन का आभार मानने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए; लेकिन अगर हमें किसी कारणवश लगे कि हमारा भाग्य ही खराब है, तो हमें अपने ऊपर आई विपदाओं का दोष अपने भाग्य को देने का उतना ही नहीं सोचना चाहिए जितना हमारे किसान ओले या पाला पड़ने का दोष अपने भाग्य को देने की सोचें. ये बात हम तब समझेंगे जब हमारे पास सुरक्षा-रूपी अमूल्य वरदान हो.

और इसके आगे ये भी कहा जा सकता है कि, प्रशासन की व्यक्तिगत मामलों में दखलंदाज़ी के ना होते हुए (धन्यवाद, प्रशासन!), हमारी इच्छाएँ और उनकी पूर्ति एक प्राकृतिक क्रम में विकसित होंगी. यानी हम ऐसे ग़रीबों को नहीं देखेंगे जो खाना मिलने से पहले साहित्य सीखना चाहें. गाँव छुड़वा कर, शहरों में लोगों को नहीं लाया जाएगा और ना ही शहर छुड़वा कर गाँवों में. हम पूंजी का, श्रमिकों का, और लोगों का, कृत्रिम सरकारी कारणों से विस्थापन होता हुआ नहीं देखेंगे; ये विस्थापन जो हमारे अस्तित्व के श्रोतों को जितना अनिश्चित कर देते है, संदेह में डाल देते हैं, सरकार की ज़िम्मेदारियों को ये उतना ही बढ़ा देते हैं.

दु:ख के साथ कहना पड़ता है कि क़ानून अब अपने क्षेत्र में बँध के नहीं रहा. ना ही अब ये नज़रिया विवादास्पद या अस्पष्ट रहा है कि क़ानून अब अपनी सही जगह छोड़ चुका है. इससे भी आगे, क़ानून ने, जो इसका सही काम है उसके बिल्कुल विपरीत किया है; क़ानून ने अपना खुद का ध्येय ही ध्वस्त कर दिया है; क़ानून का इस्तेमाल अब उसी न्याय के विनाश के लिए किया जा रहा है जिसे इसको स्थापित करना चाहिए था. अधिकारों की जिन सीमाओं का आदर इसका (क़ानून का) सच्चा मिशन था, उन्हीं का उल्लंघन करके और उन्हीं (सीमाओं) को मिटा के, इसने (क़ानून ने) अपने सामूहिक बल को उन लोगों की सेवा में लगा दिया है जो लोग बेझिझक, बेखौफ़ अन्य लोगों से, अन्य लोगों की स्वतंत्रता से, और उनकी संपत्ति से खिलवाड़ करना चाहते हैं; क़ानून ने अब लूटमार को एक अधिकार में तब्दील कर दिया है ताकि लूटमार की तो ये रक्षा कर सके और लूटमार से अपनी जायज़ रक्षा को एक अपराध में परिवर्तित कर दिया है ताकि उसको (लूटमार से अपनी जायज़ रक्षा को) ये दंडित कर सके.

क़ानून को इस तरह से भ्रष्ट कैसे कर दिया गया? और इसका क्या परिणाम हुआ है?

क़ानून को दो तरह के कारणों के प्रभावों ने भ्रष्ट कर दिया है - खुला लालच और भ्रमित परोपकार.

पहले हम "खुले लालच" के बारे में बात करते हैं. स्वरक्षा और स्व-विकास सभी इंसानों की इच्छा होती है, और वो इस तरह कि, अगर हरेक इंसान अपनी शक्तियों का खुल कर उपयोग कर सके और इसके परिणाम से आने वाले फलों को भोग सके तो सामाजिक विकास स्वतः, लगातार, बिना रुके, अवश्य ही होता रहेगा.

लेकिन एक और प्रवृत्ति है जो सभी इंसानों में अक्सर होती है - और वो ये कि - जहाँ तक हो सके, खुद को जीवित रखना और खुद का विकास करना, चाहे वो दूसरे इंसानों की कीमत पर भी क्यों ना हो (अगर ज़रूरत पड़े तो). ये कोई ज़ल्दबाज़ी में लगाया गया आरोप नहीं है जो कि किसी खिन्न, कठोर दिल से निकल रहा हो. इतिहास इसकी सच्चाई की गवाही देता है, लगातार होते हुए युद्धों से, विभिन्न जातियों और वर्गों के देशांतरणों से, विभिन्न संप्रदायों पर होते उत्पीड़न से, सारी दुनियाँ में (एक समय पर) फैली दास प्रथा से, और एकछत्र साम्राज्यों से, जो इतिहास में भरे पड़े हैं. इस घातक प्रवृत्ति का स्रोत इंसानी मूल बनावट में ही होता है - उस आदिकाल से चली आ रही, सर्वव्यापक और अजेय भावना में जो इंसानों को खुद की सलामती की ओर और किसी भी तरह की पीड़ा से बचने की ओर प्रेरित करती है.

इंसान को जीवन और आनंद सिर्फ़ सतत: खोज करने से और नयी वस्तुओं को हासिल करने से मिलता है; यानि कि अपनी खूबियों और शक्तियों को किसी काम पर या वस्तु पर इस्तेमाल करने से, या परिश्रम करने से. निजी संपत्ति का उद्गम यहीं से है.

लेकिन इसके साथ साथ इंसान को जीवन और आनंद अपने संगी-साथी इंसानों की शक्ति से पैदा की गयी वस्तुओं (यानि दूसरों की संपत्ति) को छीनने या हड़पने से भी मिल सकता है. लूट और डाके का उद्गम यहाँ से है.

अब, मेहनत करना परेशानी वाला काम तो है और इंसानी प्रकृति है परेशानी से दूर रहने की, इसलिए यही होगा, और इतिहास इसकी पुष्टि करता है, कि जब-जब लूट और डाका, मेहनत करने की तुलना में कम कष्टदायक होगा, वो ज़्यादा प्रचलित हो जाएगा; और इस स्थति में ना धर्म और ना नैतिकता इसको प्रचलित होने से रोक पाएगी.

फिर लूटपाट और डाका कब रुकेगा? तब, जब ये सब मेहनत करने से ज़्यादा कष्टदायक और ज़्यादा ख़तरे वाला हो जाएगा. ये बिल्कुल स्पष्ट है कि क़ानून का सही उद्देश्य लूटपाट करने की घातक प्रवृत्ति का, सामूहिक ताक़त की मजबूत रुकावट डालकर, विरोध करना है; क़ानून के सभी प्रावधान संपत्ति की रक्षा के लिए और लूटपाट के विरुद्ध होने चाहिए.

लेकिन क़ानून ज़्यादातर बनाया जाता है, एक इंसान द्वारा या एक तरह के इंसानों के द्वारा. और चूँकि क़ानून का अस्तित्व एक प्रभावशाली बल की सहमति और समर्थन के बिना नहीं बना रह सकता है, क़ानून को ये प्रभावशाली बल उन्हीं लोगों के हाथ में देना पड़ता है जो क़ानून बनाते हैं.

उपरोक्त अविष्यंभावी घटनाक्रम, और वो घातक प्रवृत्ति, जिसके बारे में उपर लिखा गया था, जो इंसानों में है, कारण हैं पूरी दुनियाँ में हुए क़ानून के भ्रष्टीकरण के. अब इस बात को आसानी से समझा जा सकता है कि, क़ानून कैसे अन्याय पर रुकावट बनने की बजाय, अन्याय का सबसे पुरज़ोर औज़ार बन जाता है.

इस बात को आसानी से समझा जा सकता है कि, क़ानून-निर्माताओं को मिली हुई शक्तियों के हिसाब से, क़ानून अपने फ़ायदे के लिए, समाज में विभिन्न मात्रा में, स्वाब्लम्बन को नष्ट कर देता है गुलामी से, स्वतंत्रता को नष्ट कर देता है दमन से, और संपत्ति को लूट से.

अन्याय का शिकार होने पर, उसके खिलाफ उठना ये इंसानी प्रकृति में है. इसलिए, जब क़ानून ही लूट को स्थापित करता है (उन लोगों के मुनाफ़े के लिए जो लूट करते हैं), तब सभी लूटे जाने वाले वर्ग, किसी ना किसी शांतिपूर्ण या क्रांतिकारी तरीकों से, स्वयं क़ानून निर्माण की ओर प्रवृत्त होने लगते हैं. इस तरह, अपने राजनीतिक अधिकारों को पाने का प्रयास करते हुए, ये वर्ग, अपनी-अपनी समझ के अनुसार दो बहुत ही अलग उद्देश्यों की ओर जा सकते हैं; या तो वो क़ानूनी लूट को रोकने की इच्छा रख सकते हैं, या वो खुद भी क़ानूनी लूट में भाग लेने की चाहत रख सकते हैं.

उस राष्ट्र को समझिए जैसे श्राप लग गया हो जहाँ उपरोक्त दूसरी सोच वाले (यानि क़ानूनी लूट में भाग लेने की सोच वाले) लोगों के हाथ में सत्ता लग जाए और वो क़ानून बनाने की ताक़त पा जाएँ. क्योंकि अभी तक तो क़ानूनी लूट की जा रही थी थोड़े लोगों द्वारा बहुत सौं पर, जैसा उन देशों में होता है जहाँ क़ानून बनाने का अधिकार थोड़ों तक ही सीमित है. लेकिन अब से ये क़ानूनी लूट सर्वव्यापक बन जाएगी और सबकी लूट नियमित रूप से होगी. समाज में जो अन्याय है, उखाड़ फेंके जाने की बजाय, सामान्य सी बात बन जाएगी.

जैसे ही आहत वर्ग अपने राजनीतिक अधिकारों की पुनःप्राप्ति कर लेता है, उनकी पहली इच्छा "लूट को रोकना है" नहीं होती (ऐसा होने के लिए उनमें समझदारी होना ज़रूरी है, जो उनमें नहीं हो सकती), बल्कि दूसरे वर्गों के विरुद्ध संगठित हो जाना होती है, और अपने लिए ही हानिकारक साबित होने वाली, दूसरे वर्गों के विरुद्ध प्रतिशोध भावना - जैसे की "न्याय स्थापना से पहले सभी को कठोर दंड मिलना ही चाहिए" - कुछ को अपने किए अन्याय के लिए और बाकियों को अपने अज्ञान के लिए (क्योंकि उन्होंने ये अन्याय चलने दिए), ये सबसे ज़रूरी बात हो जाती है.

इसलिए, समाज में इससे बड़ा परिवर्तन और इससे बड़ी बुराई लाना असंभव है, और वो है - क़ानून को ही लूट के साधन में परिवर्तित कर देना.

उपरोक्त विकृति के परिणाम क्या होंगे? उन सबका वर्णन करने के लिए बहुत से ग्रंथ लगेंगे. फिलहाल हमें इन परिणामों में से सबसे मुख्य और विचित्र परिणाम पर ध्यान दिलाकर संतोष करना होना.

अव्वल तो ये विकृति, सभी की अंतरात्मा से न्याय और अन्याय का फ़र्क मिटा देगी. जब तक क़ानूनों का कुछ हद तक आदर ना हो, किसी भी समाज का अस्तित्व नहीं रह सकता, लेकिन क़ानूनों का *आदर करवाने* का सबसे सुरक्षित तरीका है - क़ानूनों को *आदरयोग्य* बनाना. जब क़ानून और नैतिकता एक दूसरे के विपरीत होते हैं, तब एक नागरिक के पास दो ही क्रूर विकल्प होते हैं - या तो अपनी नैतिकता खो दे, या फिर क़ानून के लिए आदरभाव - जो कि दो बराबर की बुराइयाँ हैं, जिनके बीच चुनना मुश्किल है.

क़ानून की प्रकृति अमूमन इतनी हद तक न्याय के समर्थन में होती है कि लोगों के ज़हन में क़ानून और न्याय एक समान ही होते हैं. जो क़ानूनी तौर से जायज़ है, उसको वैध भी समझने का रुझान हम सभी में इतना तीव्र होता है कि हममें से बहुत से न्याय का मूल ग़लती से क़ानून में खोजते हैं. फिर इस लूट का कारण अगर क़ानून के द्वारा दिया गया आदेश और अनुमति है, तो ये कारण बहुत से अंत:करणों को लूट, वैध और पावन दिखाई देने के लिए पर्याप्त है. दास प्रथा, संरक्षण, और कई क्षेत्रों में किसी के एकाधिपत्य का बचाव करने वाले बहुत हैं, उनमें से ही नहीं जो इन सबसे खुद लाभ उठाते हैं, बल्कि उनमें से भी जिनका इससे नुकसान होता है. अगर आपने इन प्रथाओं की नैतिकता पर संदेह जताया तो आपको सीधा-सीधा ये कह दिया जाएगा - "तुम एक ख़तरनाक प्रयोग-कर्ता हो, एक काल्पनिक आदर्शवादी, विचारक-मात्र, क़ानूनों से घृणा करने वाले; तुम तो वो आधार ही हिला डालोगे जिस पर समाज टिका है!

और कहीं आपने नैतिकता या राजनैतिक अर्थव्यवस्था पर कोई भाषण दे डाला, तो समितियाँ बिठाईं जाएँगी, सरकार से ये दरख़्वास्त करने के लिए:

> *आज से विज्ञान को सिर्फ़ मुक्त और स्वैच्छिक विनिमय का सन्दर्भ देकर (स्वतंत्रता, संपत्ति, और न्याय का सन्दर्भ), जैसा कि अभी तक होता आया है, ही नहीं बल्कि उन प्रमाणों और क़ानूनों (जो स्वतंत्रता, संपत्ति, और न्याय के विरुद्ध भी हो सकते हैं), जो फ्रांसीसी उद्योगों को विनियमित करते हैं, का भी सन्दर्भ देकर पढ़ाया जाएगा.*
>
> *सार्वजनिक भाषण-मंचों, जिनका रखाव-संभाल सरकारी खर्चे से चलता है, से बोलने वाले शिक्षकगण, वर्तमान में लागू क़ानूनों के आदर की थोड़ी सी भी तौहीन से कड़ाई से बचें.* [2]

ताकि अगर कोई क़ानून है जो दास प्रथा या एकाधिपत्य, दमन या लूट की अनुमति किसी भी रूप में देता है, तो उसका उल्लेखमात्र भी नहीं होना चाहिए - क्योंकि बिना इस क़ानून के "आदर" को ("आदर" जो ऐसा क़ानून "प्रेरित" करता होगा) हानि पहुँचाए, इस क़ानून का नाम कैसे लिया जा सकता है? और इसके आगे, नैतिकता और राजनीतिक अर्थव्यवस्था

को इस क़ानून के सन्दर्भ में ही पढ़ाया जाना चाहिए - यानि कि इस अनुमान के साथ कि ये न्यायोचित तो होगा ही, क्योंकि ये तो क़ानून है!

क़ानून के इस शोचनीय विकृतिकरण का एक और परिणाम ये है कि ये इंसानी वासनाओं को, राजनीतिक संघर्षों को, और मामूली से सियासती खेलों को बहुत ज़्यादा बढ़ाचढ़ाकर महत्व देता है.

मैं उपरोक्त कथन को हज़ारों तरह से साबित कर सकता हूँ. लेकिन मैं खुद को एक उदाहरण के द्वारा, एक ऐसे विषय तक सीमित रखूँगा, जो गये कुछ समय से सबके दिमाग़ पर है: सार्वभौमिक मताधिकार (सभी नागरिकों को चुनावी मत देने का अधिकार).

इसके बारे में 'रुसो' (एक फ्रांसीसी दार्शनिक, 1712-1778) की सोच में विश्वास रखने वाले विशेषज्ञ जो भी कहें (रुसो को मानने वाले इन विचारों को बहुत ही प्रगतिशील मानते हैं, लेकिन मैं इनको बीस शताब्दियाँ पीछे मानता हूँ), सार्वभौमिक मताधिकार (इन शब्दों का विशुद्ध अर्थ लें तो) कोई ऐसा 'पवित्र सिद्धांत' नहीं है जिसकी जाँच करना या जिसके ऊपर शक़ करना कोई अपराध हो.

इस पर (सार्वभौमिक मताधिकार के सिद्धांत पर) गंभीर आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं.

सबसे पहले, शब्द "सार्वभौमिक" एक बहुत बड़े झूठ को छुपाता है. जैसे कि फ्रांस में 3,60,00,000 (3 करोड़ 60 लाख) लोग रहते हैं. चुनावों में सभी को मत देने का अधिकार देने के लिए, 3 करोड़ 60 लाख मतदाताओं को सम्मिलित किया जाना चाहिए. अभी की सबसे विस्तृत व्यवस्था में सिर्फ़ 90,00,000 (90 लाख) को माना जाता है. यानि चार में से तीन बाहर हैं; और इससे बढ़के, ये तीनों, चौथे के द्वारा बहिष्कृत किए जाते हैं. ये बहिष्कार किस सिधान्त पर आधारित है? अक्षमता के सिधान्त पर. तो अब “सार्वभौमिक मताधिकार” का मतलब - सार्वभौमिक मताधिकार उनके लिए जो सक्षम हैं. अब असल में, सक्षम कौन है? क्या उम्र, लिंग, या न्यायालय द्वारा अपराधी ठहराया जाना, इन्ही आधारों पर अक्षमता निर्धारित की जा सकती है?

इस विषय को थोड़ा और करीब से देखने-सोचने पर हमें, मत देने का अधिकार अक्षमता पर निर्भर क्यों है; इसका कारण शायद जल्द ही समझ आ जाएगा; सबसे ज़्यादा व्यापक व्यवस्था सबसे सीमित व्यवस्था से उन शर्तों में अलग है जिनसे ये अयोग्यता (मताधिकार ना मिलने की अयोग्यता) निर्धारित होती है, और जो शर्तें सिद्धांतों की भिन्नता पर नहीं बल्कि किसी माप की मात्रा पर आधारित हैं.

बहुत सों को मताधिकार के लिए अक्षम करार करने की प्रेरणा होती है ये बात कि, मतदाता अपने लिए नहीं बल्कि और सबके लिए कुछ निर्धारित कर रहा होता है.

अगर, जैसे कि यूनानी और रोमन प्रजातांत्री सुर वाले बोलते हैं, सभी को जन्म से ही मताधिकार मिल जाए तो औरतों और बच्चों को वोट देने से रोकना अन्याय होगा. फिर उनको क्यों रोका जाता है? क्योंकि उनको अक्षम समझा जाता है. और अक्षमता मताधिकार से वंचित करने का कारण क्यों है? क्योंकि मतदाता के वोट की ज़िम्मेदारी स्वयं तक ही सीमित नहीं है; क्योंकि प्रत्येक वोट सारे समाज को संलग्न और प्रभावित करता है; क्योंकि समाज को उन बातों के बारे में कुछ आश्वासन माँगने का अधिकार है जिन पर समाज की सलामती और अस्तित्व निर्भर है.

इस सबके जवाब में क्या कहा जा सकता है, मैं जानता हूँ. मैं जानता हूँ कि क्या आपत्ति उठाई जा सकती है. लेकिन इस तरह के विवाद को हल करने का स्थान यहाँ नहीं है. मैं ये गौर करना चाहूँगा कि, यही विवाद (जो और बहुत से राजनीतिक सवालों का हिस्सा हैं), जो राष्ट्रों में हलचल मचाते हैं, उन्हें उत्तेजित करते हैं, और अस्थिर कर देते हैं, अपना सारा महत्व खो देते अगर क़ानून हमेशा से वही होता जो होना चाहिए था.

असल में, अगर क़ानून सभी की पूरी स्वतंत्रता और संपत्ति के आदर करने तक सीमित होते - अगर क़ानून सिर्फ़ हर एक व्यक्ति विशेष के अधिकार और स्वरक्षा का संगठन होता - अगर क़ानून सभी तरह के दमनों और लूट के विरुद्ध एक बाधा, एक रुकावट, और एक अनुशासनिक कार्यवाही होती - तो क्या आज हम नागरिक, मताधिकार की कम-ज़्यादा सार्वभौमिकता के उपर झगड़ रहे होते? क्या ये संभव है कि क़ानून खुद के सबसे बड़े लाभ - लोक शांति - को ही ख़तरे में डाल देता?

क्या ये संभव है कि बहिष्कृत वर्ग चुपचाप सिर्फ़ अपनी बारी आने की प्रतीक्षा नहीं करता रहे? क्या ये संभव है कि चुनावी अधिकार रखने वाला वर्ग अपने इस विशेषाधिकार के लिए (विशेषाधिकार को सुरक्षित रखने के लिए) सतर्क रहे? और क्या ये साफ नहीं है कि, अगर सब के हित एक ही बात में हैं, तो कुछ लोग, दूसरों को असुविधा पहुँचाए बिना काम करें?

लेकिन अगर इस घातक सिद्धांत का आगमन हो गया कि, संगठन, नियम, सुरक्षा, या प्रोत्साहन की आड़ में, क़ानून एक पक्ष से कुछ लेकर दूसरे पक्ष को दे सकता है, क़ानून सभी वर्गों के धन को ले सकता है किसी एक वर्ग के धन को बढ़ाने के लिए, चाहे वो एक वर्ग किसानों का हो, मिल-मालिकों का हो, जहाज़ चलाने वालों का हो, या कलाकारों और हास्य-अभिनेताओं का हो; तब इस स्थिति में अवश्य ही कोई ऐसा वर्ग नहीं होगा जो, इस वजह से, अपने हाथ क़ानून पर नहीं रखना चाहेगा, जो गुस्से से, अपने चुनने और चुने जाने (मत देने और स्वयं को मत मिलने यानी चुनाव में खड़े होने) के अधिकार की माँग नहीं करेगा, जो इन अधिकारों के ना होने पर समाज को ही उथल-पुथल नहीं कर देगा. भिखारी और आवारा भी तुम्हें ये सिद्ध कर देंगे कि उन्हें निर्विवाद ये अधिकार है. वो कहेंगे:

हम कभी भी शराब, तंबाकू, या नमक भी बिना कर (टैक्स) दिए नहीं खरीदते, और इस कर का एक भाग क़ानून द्वारा उन लोगों को सुविधाएँ और उपहार देने में लगा दिया जाता है जो लोग हमसे ज़्यादा अमीर हैं. दूसरे लोग इस क़ानून का इस्तेमाल खाना, कपड़े-लत्ते, लोहा, आदि इन सब चीज़ों के मूल्य में कृत्रिम बढ़ोत्तरी के लिए करते हैं.

चूँकि सभी अपने फ़ायदे के लिए क़ानून से छेड़खानी करते हैं, हम भी वही पसंद करेंगे. हम सभी चाहते हैं कि क़ानून 'हमें मदद मिलनी चाहिए' ऐसा अधिकार बनाए, जो कि एक तरह से ग़रीब की लूट है. ये करने के लिए, हमें मतदाता और विधायक होना चाहिए, ताकि हम बड़े पैमाने पर हमारे खुद के वर्ग के लिए दान की व्यवस्था कर सकें, जैसे आपने अपने वर्ग के लिए एक बड़े पैमाने पर सुरक्षा की व्यवस्था कर रखी है.

हमसे ये नहीं कहो कि तुम हमारा काम अपने ऊपर ले लोगे और हमें चुप रखने के लिए हम पर 6 लाख फ्रैंक्स फेंक दोगे, जैसे कुत्तों के सामने हड्डी. हमारी और भी माँगे हैं, और, कम से कम, हम अपने काम खुद करना चाहते हैं, जैसे दूसरे वर्गों ने अपने लिए किए हैं.

इस तर्क का जवाब कैसे दिया जा सकता है? हां, जब तक ये माना जाएगा कि क़ानून को अपने सच्चे मिशन के रास्ते से भटकाया जा सकता है, कि क़ानून संपत्ति की सुरक्षा करने की बजाय उसमें घुसपैठ कर सकता है, सभी स्वयं ही क़ानून गड़ना चाहेंगे, या तो लूट के खिलाफ खुद की रक्षा के लिए, या फिर अपने खुद के लाभ ले लिए वे इसका संयोजन करना चाहेंगे. यह राजनीतिक प्रश्न हमेशा ध्रुवीकरण करने वाला, मुख्य, और दिलचस्प रहेगा; संक्षेप में कहें तो, क़ानून बनाने वाले महल (यानि संसद) के दरवाजे के आस-पास हमेशा झगड़ा चलता रहेगा. महल के अंदर भी झगड़ा कम उग्र नहीं होगा. इस बात से सहमत होने के लिए, फ्रांस और इंग्लेंड की संसदों में क्या होता है, ये देखने की भी ज़रूरत मुश्किल से होगी; इतना जानना ही काफ़ी है कि इस सवाल को कैसे लिया जाता है.

क्या इस बात को सिद्ध करने की ज़रूरत है कि क़ानून का ये घृणित भ्रष्टीकरण द्वेष और कलह का एक चिर श्रोत है, कि इसका झुकान समाज के विघटन की ओर होता है. संयुक्त राज्य अमेरिका को देखिए. दुनियाँ में कोई और देश नहीं जहाँ पर यहाँ से ज़्यादा क़ानून को अपने सही दायरे में रखा जाता हो - सही दायरा, यानि सभी की स्वाधीनता और संपत्ति की सुरक्षा. इसलिए दुनियाँ का कोई देश नहीं है जहाँ सामाजिक व्यवस्था यहाँ (संयुक्त राज्य अमेरिका) से ज़्यादा ठोस बुनियाद पर है. फिर भी, संयुक्त राज्य अमेरिका में भी, दो सवाल हैं, और सिर्फ़ दो, जिन्होंने शुरू से से ही राजनीतिक व्यवस्था को ख़तरे में डाला है. वो दो सवाल क्या हैं? दास-प्रथा और सीमा-शुल्क (टैरिफ़); यानि कि ठीक वो दो सवाल जिनमें प्रजातंत्र की सामान्य भावना के प्रतिकूल, क़ानून ने एक लूटने वाले का चरित्र धारण कर लिया है. दास प्रथा, क़ानून द्वारा अनुमोदित (मंज़ूर), इंसान के अधिकारों का एक उल्लंघन है. संरक्षण, क़ानून द्वारा किया, संपत्ति-अधिकारों का उल्लंघन है; और निश्चित तौर से ये बात उल्लेखनीय है कि, इतने सारे विवादों के बीच, ये दुगुनी क़ानूनी सज़ा, ये पुराने समय की दुखद विरासत ही वो बात बने जो एक संघ (संयुंक्त राज्य अमेरिका नामक राज्यों का संघ) को तोड़ सकती है और शायद तोड़ ही दे. सच में, समाज के बीचों बीच इससे ज़्यादा चौंकाने वाला तथ्य नहीं सोचा जा सकता कि: क़ानून अन्याय का एक औज़ार बन जाए. और अगर इस तथ्य के

परिणाम संयुक्त राज्य अमेरिका (जहाँ ये बात सामान्य नियम नहीं बल्कि एक अपवाद है) के लिए इतने भयंकर हैं, तो हमारे यूरोप (लेखक फ्रेडरिक बस्तियात यूरोप के निवासी थे) में क्या होगा, जहाँ ये बात एक नियम, एक व्यवस्था सी ही है?

श्री मोन्तेल्म्बर्त ने, श्री कार्लियर की प्रसिद्ध उद्घोषणा की सोच अपनाते हुए कहा है, "हमें समाजवाद के खिलाफ युद्ध करना है." और समाजवाद से उनका मतलब था, श्री चार्ल्स ड्यूपिन की परिभाषा के अनुसार, लूट. लेकिन उनका मतलब किस तरह की लूट से था? क्योंकि लूट दो तरह की होती है: क़ानून के दायरे से बाहर की लूट और क़ानून के दायरे के भीतर की लूट.

जहाँ तक बात है क़ानून के दायरे से बाहर की लूट की, जैसे कि चोरी या ठगी, जिसकी क़ानून ने परिभाषा निर्धारित की हुई है, जिसके बारे में क़ानून ने पहले से सोचा हुया है, और जो दंड संहिता से सज़ा-योग्य मानी जाती है, मैं नहीं सोचता कि वो लूट समाजवाद के नाम से विभूषित किए जाने योग्य है. ये लूट वो नहीं है जो समाज की बुनियाद को योजनाबद्ध तरीके से हिलाने की धमकी दे. इसके अलावा, इस तरह की लूट के खिलाफ युद्ध ने श्री मोन्तेल्म्बर्त, या श्री कार्लियर का इंतज़ार नहीं किया है. ये युद्ध संसार की शुरुआत से चला आ रहा है; फ्रांस में यह फ़रवरी की क्रांति (1848 की फ्रांसीसी क्रांति, जिसको 'फ़रवरी की क्रांति' भी कहा जाता है) से बहुत पहले से चला आ रहा था - समाजवाद दिखने से भी बहुत पहले से - न्यायाधीशों, पुलिस, नागरिकों पर तैनात सैनिक, जेलों, कालकोठरियों, और अन्य रंगमंचों की तामझाम आने से भी पहले से. ये स्वयं क़ानून ही है जो ये युद्ध चला रहा है, और मेरे विचार में, सभी की ये अभिलाषा होनी चाहिए कि, क़ानून का लूट के प्रति सदा यही रवैया रहे.

लेकिन ऐसा नहीं है. क़ानून कभी-कभी अपने हिस्से को ही खा जाता है. कभी-कभी क़ानून अपने हाथों से ही ये कार्य पूरा करता है, उन लोगों को शर्म, ख़तरे, पछतावे से बचाने के लिए जिन्होंने इस क़ानून से फायदा उठाया है. कभी-कभी क़ानून, न्यायाधीशों, पुलिस, सैनिकों, जेलों आदि की तामझाम, लूटने वालों की ही सेवा में रख देता है, और लुटने वाले वर्ग को, जब वह वर्ग अपनी रक्षा करने की कोशिश करता है, अपराधी समझता है. संक्षेप में कहें तो, ये होती है - क़ानूनन लूट, और निःसंदेह श्री मोन्तेल्म्बर्त का आशय इसी प्रकार की लूट से है.

शायद हो सकता हो कि यह लूट, नागरिकों को शासित करते हुए आया सिर्फ़ एक अपवादिक धब्बा हो, और उस स्थिति में, सबसे अच्छी बात जो, बिना इतने सारे भाषण दिए और रोना रोते हुए की जा सकती है, वो है: इस लूट को जल्द से जल्द, पक्षपाती वर्गों को नज़रअंदाज़ करते हुए, बंद कर दिया जाए. लेकिन इस लूट को पहचाना कैसे जाए? बहुत आसानी से. ये देखकर कि, क्या क़ानून कुछ लोगों से ऐसा कुछ ले रहा है जो उनका अपना है, और उसे लेकर क्या उन लोगों को दे रहा है जिनका ये नहीं है? ये देखकर कि, क्या क़ानून एक नागरिक को फायदा, दूसरे नागरिक का नुकसान करवा के करा रहा है? ऐसा काम जो अगर कोई नागरिक करे तो वो गुनाह माना जाएगा. ऐसे क़ानून को तुरंत रद्द किया जाए; ऐसा क़ानून सिर्फ़ एक असमानता मात्र ही नहीं है, बल्कि असमानताओं को पैदा करने वाला स्रोत है, क्योंकि इस तरह का क़ानून एक प्रतिशोध की भावना जागृत करता है; और अगर हम नहीं संभले, तो अपवादिक स्थितियाँ अपवादिक नहीं रहेंगी बल्कि बढ़ जाएँगी, दुगुनी-तिगुनी हो जाएँगी, सामान्य सी बात हो जाएगी, और ये एक व्यवस्था ही बन जाएगी. निःसंदेह ऐसे क़ानून का फायदा उठाने वाला वर्ग ज़ोर-शोर से चिल्लाएगा; वो अपने मुश्किल से हासिल किए हुए अधिकारों को जोरों से जताएगा. वो कहेगा कि राज्य उसके उद्द्योग की रक्षा करने और उसे प्रोत्साहित करने को बाध्य है; वो गिड़गिडाएगा कि राज्य के लिए सम्रद्ध होना अच्छा है ताकि वो ज़्यादा खर्च कर सके और इस तरह ग़रीब कामगारों के उपर तनख़्वाह के पैसे बरसा सके. ध्यान रहे कि इन सब झूठे तर्कों को हमें नहीं सुनना है, क्योंकि सिर्फ़ इन्हीं तर्कों को व्यवस्थित रूप देने पर क़ानूनी लूट, एक व्यवस्था का ही रूप ले लेती है.

और यही हुआ है. आज भ्रम ये है कि सभी वर्गों के पैसों से और बाकी दूसरे सभी वर्गों को समृद्ध बनाया जाए; यानी कि लूट को व्यवस्थित करने के बहाने उसे और व्यापक करा जाए. अब, क़ानूनी लूट को हज़ारों-लाखों तरीकों से किया जा सकता है. इसलिए सामने आती हैं इसे (लूट को) व्यवस्थित करने की हज़ारों-लाखों योजनाएँ; जैसे कि सीमा-शुल्क, संरक्षण, अन्य सुविधाएँ, उपहार, प्रोत्साहन, आमदनी के साथ बढ़ती कर-दर (प्रोग्रेसिव टॅक्सेशन), निशुल्क सार्वजनिक शिक्षा, काम करने (और काम मिलने) का अधिकार, लाभ मिलने का अधिकार, वेतन पाने का अधिकार, सहायता पाने का अधिकार, काम करने के उपकरण मिलने का अधिकार, उधार-माफी, आदि, आदि. और जब इन सभी योजनाओं को एक साथ लिया जाता है, उस तत्व के साथ, जो इन सब योजनाओं में हैं, यानी क़ानूनी लूट, तो उसे समाजवाद के नाम से जाना जाता है. अब समाजवाद से जो इस तरह परिभाषित होकर, सैद्धांतिक स्वरूप ले चुका हो आप क्या युद्ध लड़ेंगे, सिद्धांतों के युद्ध के सिवाय? अगर आप को ये सिद्धांत (समाजवाद का सिद्धांत) झूठा, अजीबोगरीब, घिनौना लगता है, तो आप इसका खंडन कीजिए. कोई सिद्धांत जितना

ज़्यादा ग़लत, बेतुका, और घिनौना होगा, उसका खंडन उतना ही आसान होना. सर्वोपर, अगर आपको ढृढ बनने की इच्छा है, तो शुरुआत कीजिए अपने क़ानूनों से समाजवाद के एक-एक कण को, जो शायद इसमें रेंग-रेंग के घुस चुका है, निकाल फेंकने की - और ये काम आसान नहीं होगा.

श्री मोन्तेल्म्बर्त की भर्त्सना इस बात पर की जा चुकी है कि वे समाजवाद के खिलाफ पाशविक बाल इस्तेमाल करना चाहते हैं. लेकिन उन्हें इस उलाहने (या आरोप) से छुटकारा मिलना चाहिए, क्योंकि उन्होंने साफ साफ कहा है: "हमें जो युद्ध समाजवाद के खिलाफ लड़ना है वह क़ानूनन, सभ्य, और न्याय-सम्मत होना चाहिए."

लेकिन ऐसा कैसे है कि श्री मोन्तेल्म्बर्त यह नहीं देख पा रहे हैं कि वे अपने आपको एक दुश्चक्र में डाल रहे हैं? अगर कोई क़ानून समाजवाद लाता हो, तो आप उसका विरोध करेंगे. लेकिन यहाँ तो क़ानून खुद है जो समाजवाद जगा रहा है. इसकी (समाजवाद की) महत्वाकांक्षा है - क़ानूनी, ना कि गैर क़ानूनी, लूट. ये, दूसरे एकाधिपत्यों की तरह, क़ानून को ही एक साधन बनाना चाहता है; और जब एक बार क़ानून इसकी (समाजवाद की) तरफ आ गया, तो आप क़ानून को इसके विरुद्ध कैसे करेंगे? कैसे आप इसे अपने न्यायाधिकरणों, सैनिकों, और जेलों के वश में लाएँगे? तब आप क्या करेंगे? आप चाहते हैं कि इसको (समाजवाद को) क़ानून बनाने की प्रक्रिया के किसी भी हिस्से का भागी बनने से रोका जाए. आप इसे क़ानून-निर्माण-परिसर (यानि संसद या विधानसभा) से ही बाहर रखेंगे. मैं भविष्यवाणी करना चाहूँगा कि इस काम में आप तब तक सफल नहीं होंगे, जब तक क़ानूनी लूट, क़ानून-निर्माण-परिसर (यानि संसद या विधानसभा) में बनने वाले क़ानून का आधार रहेगी.

यह बहुत ही ज़रूरी है कि क़ानूनी लूट के इस प्रश्न को हल किया जाए, और इसके प्रश्न के सिर्फ़ तीन रूप हैं:

1. जब कम लोग, बहुत सारे लोगों को लूटते हैं.
2. जब सभी लोग, दूसरे सभी लोगों को लूटने हैं.
३. जब कोई भी किसी को नहीं लूटता है.

यानी, आंशिक लूट, सर्वव्यापक लूट, और किसी भी प्रकार की लूट नहीं, हमें इनमें से चुनना है. क़ानून इनमें से ही एक परिणाम को ला सकता है.

आंशिक लूट. ये व्यवस्था तब तक चलती रही जब तक मत देने का अधिकार भी आंशिक था; व्यवस्था जिसको, समाजवाद के हमले से बचने के लिए अपनाया जाता है.

सर्वव्यापक लूट. हमें यह व्यवस्था डराती है तब, जब मताधिकार सर्वव्यापक हो गया हो; जनता को क़ानून बनाने का आइडिया समझ में आ गया हो, उन विधायकों के ही सिद्धांतों पर जिन विधायकों को जनता ने चुन कर भेजा है.

किसी भी प्रकार की लूट नहीं. यह है न्याय, शांति, व्यवस्था, स्थिरता, भाई-चारा, और सुविवेक का सिद्धांत, जिसका ढिंढोरा मैं अपने फेफड़ों की पूरी ताक़त लगाकर मरते दम तक पीटूँगा. और, ईमानदारी से पूछता हूँ, कि क़ानून को अपने हाथों में क्या और भी कुछ चाहिए? क्या क़ानून, जिसको लागू करने के लिए ताक़त का इस्तेमाल ज़रूरी है, को प्रत्येक इंसान को उसका अधिकार दिलाने के अलावा किसी और काम पर लगाना उचित है? मैं किसी को भी ये चुनौती देने को तैयार हूँ कि वो क़ानून को इस घेरे से हटा के दिखाए, बिना इसे भ्रष्ट किए और बिना उस पर ताक़त आज़माए जो उचित है. और चूँकि ये सबसे घातक, सबसे तर्कहीन सामाजिक भ्रष्टीकरण है जिसकी कि कल्पना की जा सकती है, ये मानना पड़ेगा कि इस सामाजिक समस्या का सच्चा हल, जिसको बहुत ढूँढा जाता है, इन सरल शब्दों में है - **क़ानून एक संगठित न्याय है.**

अब ये कहना बहुत ज़रूरी है, कि 'न्याय को संगठित करना (व्यवस्थित करना), क़ानून द्वारा, या, ताक़त द्वारा,' - यह अवधारणा किसी भी इंसानी गतिविधि - जैसे कि, मज़दूरी, दान, खेती, व्यापार, कारखाने, पढ़ाना, कला, या धर्म, का व्यवस्थीकरण क़ानून या ताक़त द्वारा किया जाना जैसे विचारों को सम्मिलित नहीं कर सकती; क्योंकि इनमें से किसी भी गतिविधि का व्यवस्थीकरण, सबसे ज़रूरी व्यवस्थीकरण को (यानि न्याय के व्यवस्थीकरण को) अवश्य ही नष्ट कर देगा. सच, हम नागरिकों की स्वतंत्रता पर बल के अतिक्रमण की कल्पना भी कैसे कर सकते हैं, बिना न्याय के उल्लंघन के, और परिणामत:, बिना क़ानून के सही लक्ष्य के विरुद्ध जाए?

यहाँ मैं हमारे समय की सबसे बड़ी पूर्वधारणा पर टिप्पणी करने का साहस कर रहा हूँ. क़ानून निष्पक्ष हो, ये काफ़ी नहीं माना जाता, क़ानून परोपकारी होना चाहिए. इतना पर्याप्त नहीं है कि क़ानून हर नागरिक को अपनी प्रतिभाओं का, खुल कर, दूसरों को बिना ठेस या हानि पहुँचाए, उपयोग कर पाने (नागरिकों के स्वयं के शारीरिक, मानसिक, और नैतिक विकास के लिए) की गारंटी दे; क़ानून को राष्ट्र का कल्याण, शिक्षा, नैतिकता को बढ़ावा देना भी आवश्यक है. यह सब समाजवाद का एक बहुत ही रोचक पहलू है.

लेकिन मैं दोहराता हूँ, कि क़ानून के ये दो मिशन एक दूसरे के विरोध में हैं. हमें इनमें से एक को चुनना होगा. एक नागरिक एक ही समय में स्वतंत्र और पराधीन नहीं हो सकता. श्री दी-लामर्तिन ने मुझको एक दिन ये लिखा था: "आपका सिद्धांत मेरी योजना का आधा है; आप स्वतंत्रता पर रुक जाते हैं, और मैं भाईचारे तक जाता हूँ." मैने उन्हें यह जवाब दिया: "आपकी योजना का दूसरा भाग पहले भाग को नष्ट कर देगा." और सच में, मेरे लिए "भाईचारे" शब्द को "स्वैच्छा" शब्द से अलग करना नामुमकिन है. मैं कल्पना भी नहीं कर सकता कि भाईचारे को क़ानूनन जबरन लागू किया जा सकता है, बिना स्वतंत्रता तो क़ानूनन नष्ट किए, और बिना न्याय को क़ानूनन पैरों तले कुचले. क़ानूनी लूट की दो जड़ें हैं - एक है, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, इंसानी लालच; और दूसरी है भ्रमित परोपकार.

इससे पहले कि मैं इससे आगे बढ़ूँ, मैं सोचता हूँ कि मुझे "लूट" शब्द पर अपना स्पष्टीकरण दे देना चाहिए.

मैं इस शब्द को, जैसा अक्सर समझा जाता है, एक अस्पष्ट, अपरिभाषित, तुलनात्मक, या अलंकारिक अर्थ में नहीं लेता. मैं इस शब्द ("लूट" शब्द) को इसके वैज्ञानिक अर्थ में, और "संपत्ति" के विलोम भावार्थ को प्रकट करने के लिए, इस्तेमाल करता हूँ. जब धन का एक हिस्सा, जिसने इसे हासिल किया है, बिना उसकी स्वीकृति और मुआवज़े के, उसके हाथों से, ज़बरदस्ती या चालाकी से, निकलकर उसके पास जाता है, जिसने इसे नहीं बनाया था, तो मैं कहता हूँ कि संपत्ति पर अतिक्रमण हुआ है, लूट हुई है. मैं कहता हूँ यही वो बात है, जिसे क़ानून को हमेशा और हर जगह रोकना चाहिए. अगर क़ानून खुद ही वो ही काम करता है जिस काम को इसे रोकना चाहिए, तो मैं फिर कहूँगा कि लूट हुई है, और, सामाजिक दृष्टिकोण से, और भी गंभीर

हालातों में. हालाँकि, इस स्थिति में जो लूट का लाभ उठाता है वह स्वयं इसका ज़िम्मेदार नहीं ठहराया जाता; इसका ज़िम्मेदार होता है क़ानून, क़ानून-निर्माता, स्वयं समाज; और यही वो बात है जहाँ राजनीतिक तौर से ख़तरा होता है.

इस बात का खेद है कि यह शब्द ("लूट") कुछ अपमानजनक सा शब्द है. मैने (बिना सफलता के) कोई दूसरा शब्द ढूँढने का प्रयत्न भी किया है, क्योंकि मैं कभी भी, और ख़ासकर इस समय, हमारी बहस में एक चिड़चिड़ाहट पैदा करने वाले शब्द को नहीं लाना चाहूँगा; इसलिए, चाहे कोई मेरा विश्वास करे या नहीं; मैं यह उद्घोषणा करता हूँ कि, मेरा किसी के इरादों या नैतिकता पर उंगली उठाने का उद्देश्य नहीं है. मैं एक ऐसी सोच पर हमला कर रहा हूँ जो, मैं समझता हूँ कि, ग़लत है - एक प्रणाली जो मुझे अन्यायी लगती है; और ये प्रणाली अपने इरादों से इतनी प्रथक लगती है, कि हम सभी बिना चाहे इसका फ़ायदा भी लेते हैं, और बिना कारण जाने इससे हानि भी सहते हैं.

कोई भी, जो संरक्षणवाद, समाजवाद, और यहाँ तक की साम्यवाद (जो एक ही पौधे के विकास की तीन अवस्थाएं हैं) की नेकनीयता पर सवाल उठाता है, वह किसी दल की मनोव्रत्ति या डर के प्रभाव में आकर लिखता होगा. सिर्फ़ इतना कहा जा सकता है कि लूट ज़्यादा स्पष्ट दिखती है संरक्षणता के पक्षपात से [3], और साम्यवाद की सर्वव्यापकता (सार्वभौमिकता) से; जिससे ये पता चलता है कि इन तीन व्यवस्थाओं में से समाजवाद सबसे अस्पष्ट है, सबसे ज़्यादा अपरिभाषित, और इसलिए नेकनीयता रखने जैसा लगने वाला.

जो भी हो, यह निष्कर्ष निकालना कि, क़ानूनी लूट की एक जड़ भ्रमित परोपकार में है, निःसंदेह, इरादों को प्रश्न के दायरों से निकालने के लिए है.

इस समझ के साथ, आइए इस लोकप्रिय आकांक्षा का महत्व, स्त्रोत, और इसकी प्रवृत्ति की जाँच करें, जो सबका भला करने का ढोंग, सबको लूट के करती है.

समाजवादी कहते हैं, जब क़ानून न्याय-व्यवस्था करता है, तो यह मज़दूरी, शिक्षा, और धर्म की व्यवस्था भी क्यों न करे?

क्यों न करे? क्योंकि यह (क़ानून) मज़दूरी, शिक्षा, और धर्म की व्यवस्था, न्याय की व्यवस्था बिगाड़े बिना नहीं कर सकता.

क्योंकि, याद रहे, क़ानून बल है (बल यानि ज़बरदस्ती) और इसलिए क़ानून का अधिकार-क्षेत्र, ज़बरदस्ती के अधिकार-क्षेत्र से ज़्यादा बढ़ना ठीक नहीं हो सकता.

जब क़ानून और बल, एक इंसान को न्याय के दायरे में सीमित रखते हैं, वो उसके उपर कुछ नहीं थोपते हैं, सिर्फ़ एक रुकावट के अलावा. वे सिर्फ़ उसको किसी को हानि ना पहुँचाने पर मजबूर करते हैं. वे ना तो उसके व्यक्तित्व, ना स्वतंत्रता, और ना ही उसकी संपत्ति पर अतिक्रमण करते हैं. वे सिर्फ़ दूसरों के व्यक्तित्व, स्वतंत्रता, और संपत्ति की रक्षा करते हैं. वे सुरक्षा करने तक ही खुद को सीमित रखते हैं; वे सभी के समान अधिकारों की रक्षा करते हैं. वे एक ऐसा मिशन पूरा करते हैं जो स्पष्ट तौर पर हानि-रहित है, जिसकी उपयोगता साफ महसूस की जा सकती है, और जिसकी वैधता पर विवाद नहीं है. यह बात कितनी सच है! जैसा मेरे मित्र ने कभी मुझसे कहा था, 'क़ानून का उद्देश्य न्याय-स्थापना है,' यह अभिव्यक्ति पूरी तरह से सच नहीं है. बल्कि यह कहा जाना चाहिए की क़ानून का उद्देश्य अन्याय-स्थापना होना रोकना है. वाकई, यह न्याय नहीं है जिसका अपना अस्तित्व है, बल्कि यह अन्याय है जिसका अपना अस्तित्व है. इनमें से एक (न्याय), दूसरे (अन्याय) के ना होने से उत्पन्न होता है.

लेकिन जब क़ानून अपने आवश्यक प्रतिनिधि, यानि - ज़बरदस्ती द्वारा एक तरह का काम, एक तरीका या एक शिक्षा का विषय, एक पंथ, एक तरह की पूजा के जैसा, थोप देता है, तो यह लोगों को रोकता ही नहीं, बल्कि किसी एक तरफ धकेलता है. यह लोगों की स्वैच्छा की बदली, क़ानून-निर्माता की इच्छा से कर देता है; और लोगों की पहल की बदली, क़ानून-निर्माता की पहल से. लोगों को परामर्श की, तुलना करने की, दूरदर्शिता दिखाने की कोई ज़रूरत नहीं रहती; अब क़ानून ही ये सब उनके लिए करता है. दिमाग़, उनके लिए अब एक फालतू का बोझ बन जाता है, वो इंसान नहीं रहते, वो अपना व्यक्तित्व, अपनी स्वच्छन्दता, अपनी संपत्ति खो बैठते हैं.

कल्पना कीजिए, जबरन थोपे गये किसी भी तरह के श्रम की, जो स्वच्छन्दता पर अतिक्रमण ना हो; जबरन किए गये धन के किसी भी तरह के हस्तांतरण की, जो संपत्ति पर अतिक्रमण ना हो. अगर आप इसको स्वीकार करने में सफल नहीं हैं, तो आप इस निष्कर्ष पर पहुँचने पर बाध्य हो जाएँगे कि क़ानून, मज़दूरी और कारखानों का व्यवस्थीकरण, अन्याय का भी व्यवस्थीकरण किए बिना नहीं कर सकता.

जब, अपने दफ़्तर के एकांत से, एक राजनीतिज्ञ, समाज का दृश्य लेता है, तो उसे असमानता की प्रदर्शिनी ज़ोरों से प्रभावित करती है. उसे हमारे बहुत भाई-बंधुओं के भाग्य में लिखी पीड़ाओं पर रोना आता है; पीड़ाएँ, जो संपन्न्ताओं और वैभवों की विषमताओं के होते और भी दुःखद बन जाती हैं.

शायद उसे (राजनीतिज्ञ को) खुद से पूछना चाहिए कि कहीं ऐसी सामाजिक परिस्थिति पुराने ज़माने की लूट के कारण तो पैदा नहीं हुयी? पुराने ज़माने की लूट, जो युद्धों में विजय के बाद होती थी; या कहीं हाल ही की गयी आधुनिक लूट के कारण तो नहीं? आधुनिक लूट, जो क़ानूनों के माध्यम से की जाती है. उसको स्वयं से पूछना चाहिए कि, अगर ये समझ कर चलें कि सभी इंसानों की आकांक्षा खुद की सलामती और उन्नति होती है, तो क्या न्याय की स्थापना, प्रगति की गतिविधि को वास्तविकता में बदलने के लिए काफ़ी नहीं होगी? क्या न्याय की स्थापना, भगवान ने हमारे अच्छे और बुरे गुणों के बदले में, जो उचित व्यक्तिगत ज़िम्मेदारी हमें दी है, उसके अनुकूल सर्वाधिक समानता लाने के लिए काफ़ी नहीं?

वह (राजनीतिज्ञ) कभी इस बारे में नहीं सोचता. उसका दिमाग़ जोड़ तोड़, इंतज़ाम, या क़ानूनी या नकली संगठनों में रहता है. वह उसी चीज़ को कायम रखने और बढ़ाने के उपाय ढूंढता है जिसने इस बुराई को पैदा किया है.

क्योंकि, न्याय छोड़िए, जिसे हमने एक रुकावट मात्र जैसा समझा है, क्या कोई भी क़ानूनी व्यवस्था है जिसमें लूट का सिद्धांत ना हो?

आप कहते हैं, "ऐसे भी इंसान हैं जिनके पास बिलकुल भी धन नहीं है," और आप क़ानून से गुहार करते हैं. लेकिन क़ानून कोई 'स्व-प्रदाय' सोता नहीं है जहाँ से हरेक धारा की आपूर्ति, समाज पर बिना निर्भर हुए, हो जाती हो. सार्वजनिक

कोशागार में किसी एक नागरिक या वर्ग-विशेष के लिए ऐसा कुछ नहीं आता जो दूसरे नागरिक या वर्ग से जबरन ना लिया गया हो. ये सच है कि, अगर इस कोशागार से हर कोई सिर्फ़ उतना ही निकाले जितना उसका इसमें योगदान रहा हो, तो क़ानून लुटेरा नहीं कहलाएगा, लेकिन उस स्थिति में, क़ानून, जो लोग पैसा चाहते हैं उनके लिए कुछ नहीं करेगा - तब क़ानून समानता को बढ़ावा नही देगा. क़ानून बराबरी लाने का साधन वहाँ तक ही बन सकता है जहाँ तक ये एक वर्ग से लेकर दूसरे को देता है, और तब यह लूट का एक साधन बन जाता है. इस जानकारी की रोशनी में आप जाँच कीजिए - सीमा शुल्क की, सरकारी आर्थिक सहायता की, मुनाफ़े के अधिकार की, काम मिलने के अधिकार की, सहायता मिलने के अधिकार की, नि:शुल्क सार्वजनिक शिक्षा की, बढ़ती हुई कर दर की, नि:शुल्क उधार की, सामाजिक कार्यशालाओं की; और आप हमेशा इनके मूल में पाएँगे - क़ानूनी लूट, संगठित अन्याय.

आप कहते हैं, "ऐसे भी इंसान हैं जिन्हें ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा है," और फिर आप क़ानून से याचना करते हैं (उन्हें ज्ञान-प्राप्ति करवाने के लिए). लेकिन क़ानून कोई ऐसी मशाल नहीं है जो खुद से ही उत्पन्न हुई रोशनी बिखेरती हो. क़ानून ऐसे समाज पर लागू है जहाँ ऐसे लोग हैं जिनके पास ज्ञान है और ऐसे भी लोग हैं जिनके पास ज्ञान नहीं है; ऐसे नागरिक हैं जो सीखना चाहते हैं और ऐसे भी, जो सिखाने की मनोव्रत्ति रखते हैं. क़ानून दो में से सिर्फ़ एक काम कर सकता है: या तो इस तरह के लेन-देन को बेरोक-टोक चलने दे, यानि इस तरह की इच्छाओं की पूर्ति बेरोक-टोक होने दे, या फिर इस मामले में लोगों की इच्छा चलने देने की बजाय, उनमें से कुछ लोगों से इतना पैसा ले ले जितना उन शिक्षकों को देने के लिए पर्याप्त है जिनको मुफ़्त में दूसरों को सिखाने ले लिए रखा गया है. लेकिन यह दूसरी स्थिति, स्वतंत्रता और संपत्ति पर अतिक्रमण हुए बिना नहीं हो सकती - यानि कि क़ानूनी लूट.

आप कहते हैं, "यहाँ पर ऐसे इंसान हैं, जिनमें नैतिकता और धर्म की कमी है," और आप क़ानून को अर्जी देते हैं (उन इंसानों में नैतिकता और धर्म उत्पन्न करवाने के लिए), लेकिन क़ानून बल (ज़बरदस्ती) है, और अब क्या मुझे बताना पड़ेगा कि इन मामलों में (नैतिकता और धर्म के मामलों में) ज़बरदस्ती करना कितना ज़्यादा हिंसक और विचित्र है?

समाजवाद की व्यवस्थाओं और प्रयासों के कारण ऐसा लगता है कि यह (समाजवाद), अपनी सारी आत्म-संतुष्टि (यानि खुद की ही वाह-वाही) की भावना के बिना भी देखे तो भी, क़ानूनी लूट नामक शैतान को यह बमुश्किल देख पाता है.

लेकिन यह (समाजवाद) क्या करता है? यह इसको (क़ानूनी लूट को) चालाकी से, 'भाईचारा,' 'एकजुटता,' 'संगठन,' 'सह्चर्य' जैसे मनोहारी शब्दों के पीछे, दूसरों से छुपाता है, और यहाँ तक कि स्वयं से भी छुपाता है. और चूँकि हम क़ानून से इतना सब कुछ नहीं माँगते हैं, चूँकि हम इससे सिर्फ़ न्याय माँगते हैं, ये आरोप लगाता है कि हम भाईचारा, एकजुटता, संगठन, सह्चर्य आदि नहीं चाहते, और वह हम पर 'व्यक्तिवादी' (यानि 'निजी-वादी' या 'एकांत-वादी') के नाम का ठप्पा लगा देता है.

हम उन्हें आश्वासन दे सकते हैं कि हम जो अस्वीकार कर रहे हैं, वह प्राकृतिक बात नहीं है बल्कि जबरन किया गया व्यवस्थीकरण है.

यह स्वच्छन्द सह्चर्य नहीं, बल्कि ऐसा सह्चर्य है जो वो हम पर जबरन थोपना चाहते हैं.

यह सहज प्राकृतिक भाईचारा नहीं, बल्कि क़ानूनी जबरन भाईचारा है.

यह दैविक एकजुटता नहीं, बल्कि कृत्रिम एकजुटता है, जो कि ज़िम्मेदारी का अनुचित स्थानांतरण है.

समाजवाद, ठीक उस पुरानी नीति की तरह, जहाँ से ये निकलता है, सरकार और समाज की सोच को उलझा देता है. और इसलिए हर बार जब हम सरकार द्वारा कोई काम किए जाने पर आपत्ति उठाते हैं, यह ये निष्कर्ष निकालता है कि हम इस कार्यविशेष के किए जाने पर ही आपत्ति उठा रहे हैं. हम सरकार द्वारा शिक्षा को मंज़ूर नहीं करते - तो हम शिक्षा के ही विरुद्ध हैं. हम राज्य-धर्म घोषित किए जाने पर आपत्ति उठाएँ - तो हमें धर्म ही नहीं चाहिए. हम आपत्ति उठाएँ एक ऐसी समानता पर जो राज्य द्वारा जबरन लाई गयी है, तो शायद हम समानता के ही खिलाफ होंगे, इत्यादि, इत्यादि. क्यों ना वे हम पर लोगों को भूखे मार देने की इच्छा रखने का ही आरोप लगा दें, क्योंकि हम सरकार द्वारा मक्के की पैदावार पर आपत्ति उठाते हैं!

ऐसा कैसे हुआ कि, क़ानून द्वारा वह, जो इसके पास नहीं है - समृद्धता, संपत्ति, विज्ञान, धर्म - आदि को उत्पन्न करने जैसे विचित्र विचारों को राजनीतिक दुनियाँ में प्रभावशाली माना जाने लगा? आधुनिक राजनीतिज्ञओं, ख़ासकर के समाजवादी

विचारधाराओं वालों, को अपने अलग-अलग सिद्धांतों का एक सामान्य आधार-सूत्र मिल गया; और सच में, इससे ज़्यादा विचित्र, इससे ज़्यादा दंभी विचार कभी भी इंसानी जहन में नहीं आया होगा.

इसने (इस समाजवाद की विचारधारा ने) इंसानियत को दो भागों में बाँट दिया. ज़्यादातर इंसान वर्ग, एक वर्ग को छोड़कर, पहली श्रेणी में आते हैं; और राजनीतिज्ञ दूसरी श्रेणी बनाते हैं, जो सबसे ज़्यादा महत्वपूर्ण है.

असल में वे (ऐसे राजनीतिज्ञ) शुरुआत ही ये सोच के करते हैं कि इंसानों में काम करने की कोई आचार-संहिता नहीं होती, और, इंसान विवेकहीन है; पहलहीन भी है; इंसान जड़-प्रदार्थ है; निष्क्रिय कण मात्र है, एक गतिहीन परमाणु; ज़्यादा से ज़्यादा एक वनस्पति, जो खुद अपने अस्तित्व से भी अनभिज्ञ है, जो एक बाहरी जबरन इच्छा शक्ति से हज़ारों रूपों-आकारों, जो काफ़ी हद तक सममितीय, सुडौल, सुन्दर, और सर्वोत्तम, हैं, में ढाला जा सकता है.

इससे आगे, इनमें से हर एक राजनीतिज्ञ ये धारणा बनाने से नहीं हिचकिचाता है कि, वह खुद, एक आयोजक, आविष्कारक, सांसद या विधायक, संस्थापक या स्थापक, वो इच्छा और कार्य, वो सर्वव्यापक पहल, वो सर्जनात्मक शक्ति है, जिसका उत्कृष्ट उद्देश्य यह है कि इन सब फैले-बिखरे पदार्थों (यानि इंसानों) को साथ में लाकर, समाज में परिवर्तित कर दिया जाए.

इन तथ्यों से शुरू करके, जैसे कि कोई माली अपने मन-मुताबिक अपने पेड़-पौधों को विभिन्न आकारों, जैसे, पिरामिड, छत्र, घन, शंकु, गुलदान, बेलों, लाठी, पंखा, इत्यादि, में ढालता है; वैसे ही, एक समाजवादी, अपनी कल्पना के अनुसार बेचारी संपूर्ण मानवता को विभिन्न वर्गों, श्रेणियों, घेरों, उप-घेरों, मधुकोषों, या सामाजिक कार्यशालाओं, में, तरह-तरह के रूपांतरों के साथ, तराशता है. और जैसे कि माली को, अपने पेड़-पौधों को तराशने के लिए कुल्हाड़ी, हंसिया, आरी, और कैंची की ज़रूरत पड़ती है, वैसे ही एक राजनीतिज्ञ को, समाज को सही आकार में लाने के लिए उन ताकतों की ज़रूरत होती है जिन्हें वो सिर्फ़ क़ानून में ही पा सकता है; सीमा-शुल्क का क़ानून, करों का क़ानून, सहायता का क़ानून, और शिक्षा का क़ानून.

इस बात में बहुत सच है, कि एक समाजवादी, मानवता को, एक सामाजिक प्रयोग या परीक्षण की वस्तु के रूप में देखते हैं, यानि, अगर संयोगवश, उन्हें (समाजवादियों को) इन प्रयोगों के सफल होने पर भरोसा नहीं है, तो वो मानवता के एक हिस्से को प्रयोग की वस्तु जैसा इस्तेमाल करने का निवेदन करेंगे. यह सभी जानते हैं कि सभी प्रणालियों की परीक्षा (इंसानों पर) करने का विचार उनमें कितना प्रचलित है, और उनका एक प्रवक्ता तो विधान सभा से, पूरी गंभीरता के साथ, अपने प्रयोग-हेतु एक गाँव (गाँव में रहने वालों समेत) की माँग के लिए भी जाना जाता है.

इसी कारणवश एक अन्वेषक, नियमित (बड़े) आकार से पहले एक छोटे आकार की मशीन बनाता है. इसी कारणवश एक रसायनज्ञ, कुछ पदार्थों की, कृषक कुछ बीजों की और अपने खेत के एक कोने की, आहुति, एक नये विचार की परीक्षा करने के लिए दे देता है.

लेकिन ज़रा सोचिए माली और उसके पेड़ों के बीच, अन्वेषक और उसकी मशीन के बीच, रसायनज्ञ और उसके पदार्थों के बीच, और कृषक और उसके बीजों के बीच के फ़र्क के बारे में. एक समाजवादी, पूरी गंभीरता से, अपने और बाकी की संपूर्ण मानवता में, वही फ़र्क समझता है.

कोई आश्चर्य नहीं कि उन्नीसवीं शताब्दी के राजनीतिज्ञओं ने समाज को ही क़ानून-निर्माता की प्रतिभा का एक कृत्रिम उत्पाद जैसा समझ लिया. यह विचार, जो कि हमेशा से चलती आ रही शिक्षा का परिणाम है, हमारे देश के सभी विचारकों और लेखकों के दिमाग़ पर कब्जा सा कर चुका है.

इन सभी लोगों (विचारकों, लेखकों, और राजनीतिज्ञओं) को, सारी मानवता और क़ानून-निर्माता के बीच का संबंध वही लगता है जो मिट्टी और कुम्हार के बीच में होता है.

और, अगर वे इंसान के दिल में कर्म-क्षमता, और इंसान की बुद्धि में अच्छे-बुरे का अंतर पहचानने की शक्ति को मान भी गये, तो भी वे ऊपरवाले की इस भेंट को घातक मानते हैं और सोचते हैं कि, मानवता, इन दो आवेगों (दिल में कर्म-क्षमता, और बुद्धि में पहचान-शक्ति) के अंतर्गत, विनाश की ओर अग्रसर होती है! उन्होनें इस बात को चिर-सत्य ही समझ लिया है कि

अगर इंसान को अपनी प्रवृत्ति पर छोड़ दिया जाए, तो वह धर्म से शुरुआत करके नास्तिकता, शिक्षा से शुरू करके अज्ञान, और श्रम-विनिमय से शुरू करके अभाव और विपत्ति की स्थिति में पहुँचकर अंततः नष्ट हो जाएगा.

सौभाग्य से, इन लेखकों के अनुसार, कुछ इंसान हैं, जिन्हें राज्यपाल, सांसद, और विधायक के नाम से पुकारा जाता है, जिनको कुदरत ने विपरीत प्रवृत्तियाँ अर्पण की हैं, उनके स्वयं के भले के लिए नहीं, बल्कि बाकी सारी दुनियाँ के भले के लिए.

जब मानवता बुराई और अनिष्ट की ओर झुकती है, ये (उपरोक्त उल्लेखित भले इंसान) अच्छाई की ओर झुकते हैं; जहाँ मानवता अंधकार की ओर जा रही है, वहीं ये भले मानव ज्ञान-प्राप्ति की कामना रखते हैं; जहाँ इंसानियत को बुरी-आदतें अपनी ओर खींचती हैं, इन भले-मानुसों को सिर्फ़ सदगुण ही आकर्षित करते हैं. और, ये माना जाना चाहिए, कि ये ज़बरदस्ती करना चाहते हैं, (तो सिर्फ़ इसलिए कि) जिससे वे अपनी सर्व-श्रेष्ठतम प्रवृत्तियों से संपूर्ण मानवजाति की निम्न प्रवृत्तियों को बदल सकें.

किसी भी दर्शन, राजनीति, या इतिहास की किताब को बस खोलने भर की ज़रूरत है, ये देखने के लिए कि, यह विचार - जो कि हमारी पुरातन शिक्षा की पैदाइश है, और साथ ही समाजवाद का जन्मदाता भी है - कितनी धृढ़ता से हमारे देश की जड़ में घुसा हुआ है; जैसे कि मानवता जैसे सिर्फ़ एक जड़-प्रदार्थ मात्र हो, जिसे ज़िंदगी, व्यवस्थीकरण, नैतिकता, और समृद्धि, जबरन ही मिल सकती है; या फिर, उससे भी खराब बात - कि मानवता स्वत: पतन की ओर झुकती है और इसके पतन में रोक लगाई जा सकती है तो सिर्फ़ क़ानून-निर्माता के रहस्यमय हाथ से. पुरानी परंपरा हमेशा हमें सब जगह यही सिखाती हैं कि, जड़ समाज के पीछे एक छुपी शक्ति है, जिसे क़ानून, या क़ानून निर्माता के नाम से (या ऐसे ही किसी और शब्द से जो कोई नि:संदेह, भारी-भरकम, एक या एक से ज़्यादा व्यक्ति हैं, लेकिन जिसका कोई नाम नहीं) जाना जाता है, जो मानवता को हिलाती है, जीवित करती है, समृद्ध और पुनर्जीवित करती है.

यहाँ हम बोस्वेय (फ्रांसीसी लेखक) के लेखों से एक उदाहरण लेंगे:

एक बात जो मिस्त्र (ईजिप्ट) राष्ट्र के नागरिकों के दिमाग़ पर बहुत गहराई से अंकित की गयी थी (किसके द्वारा?), वो थी अपने देश के लिए प्रेम ... किसी को भी देश के लिए बेकार, नाकारा होने की छूट नहीं थी; क़ानून ने सभी को उसका काम (रोज़गार) नियुक्त किया हुआ था, जो कि पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलता आता था. किसी को भी दो व्यवसाय करने की अनुमति नहीं थी, ना ही कोई दूसरा व्यवसाय अपनाने (नियुक्त किया हुआ व्यवसाय छोड़ कर) की ... लेकिन एक व्यवसाय था जो कि सभी के लिए ज़रूरी था, वो था क़ानून और बुद्धिमत्ता का अध्ययन; धर्म और राजनीतिक नियमों की अज्ञानता किसी भी हालत में माफ़ नहीं थी. यहाँ तक कि, हर व्यवसाय को एक जिला सौंपा गया था (किसके द्वारा?) ... अच्छे क़ानूनों में, सबसे अच्छी बात ये थी, कि सभी को उन्हें (उन्हें यानि अच्छे क़ानूनों को) मानना सिखाया गया था (किसके द्वारा?). मिस्त्र अद्भुत ईज़ादों से भरपूर था, और किसी भी चीज़ को, जो ज़िंदगी को आसान और शांति-पूर्ण बना सके, नज़रअंदाज़ नहीं किया जाता था.

अत:, बोस्वेय के अनुसार, इंसान अपने लिए कुछ नहीं उत्पन्न करते; देशभक्ति, पैसा, आविष्कार, खेती, विज्ञान - ये सभी चीज़ें उनको हासिल होती हैं - क़ानून से, या राजाओं से. उनकों (इंसानों को) मात्र इतना करना है कि निष्क्रिय बने रहें. इसी आधार पर, जब दिओदोरुस (दिओदोरुस सीकुलुस: जन्म - 90 ईसापूर्व, म्रत्यु - 30 ईसापूर्व, यूनानी इतिहास के इतिहासकार) मिस्त्रवासियों पर कुश्ती और संगीत को ठुकराने का आरोप लगते हैं, तो बोस्वेय ये आपत्ति उठाते हैं: "यह कैसे संभव है," बोस्वेय कहते हैं, "क्योंकि ये कलाएँ तो त्रिसमेजिसटस (एक यूनानी देवता) ने ईज़ाद की थीं!"

पारसियों के साथ भी यही बात है:

राजकुमार की पहली चिंता थी खेती को प्रोत्साहन देना ... जैसे सेना के नियंत्रण के लिए चौकियाँ स्थापित थीं, वैसे ही गाँव के कामों के संचालन के लिए दफ़्तर थे ... शाही निगरानी के प्रति पारसियों में बहुत ज़्यादा आदर उत्प्रेरित किया गया था.

यूनानी, हालाँकि पूरी तरह से जागरूक थे, लेकिन वे अपनी स्वयं की ज़िम्मेदारी से कुछ कम अनभिग्य नहीं थे; यहाँ तक कि, अपने आप, कुत्ते और घोड़ों की तरह, वे आसान से आसान खेल-गतिविधि तक शुरू नहीं करते थे. यह एक प्राचीन निर्विवाद मान्यता सी रही है कि जनता को सब (प्रोत्साहन) बाहर से मिलता है.

> *यूनानी, जो प्राकृतिक रूप से ही उत्साह और हिम्मत से भरपूर थे, मिस्त्र से आए राजाओं और अन्य लोगों द्वारा और भी निखरा दिए गये थे. उनसे (मिस्त्र से आए लोगों से और राजाओं से) यूनानिओं ने शारीरिक कसरतें, दौड़ें, घुड़-दौड़ और बग्घी की रेस सीखी थीं ... सबसे उत्तम बात जो मिस्त्र वासियों ने उन्हें सिखाई थी, वो थी विनम्रता, और स्वयं को जनता की भलाई के लिए, क़ानून द्वारा सही साँचे में ढल जाने देना.*

फेनलॉन (फ्रांसीसी धर्मशास्त्री, कवि, एवं लेखक) ने - जो पुरातनता के अध्ययन और तारीफ में पले-बढ़े थे, और जिन्होंने लुई-चौदहवें (फ्रांसीसी राजा) की ताक़त को खुद देखा था, सहज ही ये विचार अपना लिया कि मानवता को निष्क्रिय होना चाहिए, और मानवता के दुर्भाग्य, समृद्धि, गुण या अवगुण, ये सब बाहर की शक्तियों द्वारा (खुद मानवों द्वारा नहीं) विकसित किए जाते हैं. वो शक्तियाँ, जो मानवता पर, क़ानून या क़ानून निर्माताओं द्वारा लागू की जाती हैं. अत: अपनी पुस्तक, "सलेन्तम का आदर्शलोक" में फेनलॉन, इंसान, उसकी रुचियाँ, शक्तियाँ, इच्छाएँ, और सामान-संपत्ति, आदि सभी क़ानून-निर्माता के परम-निर्देश के अंतर्गत होती है, ऐसा चित्रित करते हैं. कोई भी विषय हो, साधारण इंसानों का इसमें कोई मत नहीं होता - राजा या राजकुमार उनके लिए निर्णय करता है. राष्ट्र सिर्फ़ एक आकारहीन झुंड के समान है, जिसकी राजकुमार आत्मा है. राजकुमार में विचार, दूरदर्शिता, सब तरह की व्यवस्था और उन्नति के नियम-क़ायदे आदि सभी विराजमान होते हैं; अत: उसी पर सारी ज़िम्मेदारी होती है.

इस कथन के प्रमाण हेतु, मैं टेलिनिकस ("टेलिनिकस" ऑडिसी नामक किताब का एक पात्र है जिसमें वो ऑडिसस और पेनेलोप का बेटा है) की दसवीं किताब को शायद पूरा का पूरा दुबारा यहाँ लिख सकता हूँ. परंतु मैं पाठक को इस किताब का उल्लेख मात्र देकर, और इस मशहूर किताब (वो किताब, जिसके साथ, चाहे किसी भी तरह से देखा जाय, मैं पहला इंसान होऊँगा, जिसने न्याय किया है) के कुछ, बिना सोचे चुने गये अंश, यहाँ प्रस्तुत करके स्वयं को संतुष्ट कर लूँगा.

उस आश्चर्यजनक भोलेपन के साथ जो प्राचीन रचनाओं का एक खास लक्षण होता है, फेनलॉन, तर्क-विवेक और तथ्यों के विपरीत, ये मानते हैं कि, मिस्त्रवासी सर्वव्यापी सुखानंद उठा रहे थे और फेनलॉन उसका कारण मिस्त्रवासियों की स्वयं की नहीं बल्कि उनके राजाओं की बुद्धिमत्ता बताते हैं.

> *हम एक से दूसरे नदी-किनारे तक भी नज़र उठा कर नहीं देख सकते थे, बिना समृद्ध और खुशहाल बसे हुए बस्ती-कस्बों को पाए; खेत-खलिहान, जो साल-दर-साल, बेनागा, सुनहरी फसलों से पट जाते थे; भेड़-बकरियों से भरे चारागाह; उगाने वालों को धरती की एक अति-उदार भेंट में मिले फलों को उठाते और उनके बोझ से झुके कामगार; और गड़रिए, जो अपनी मुरली और बंसी की मधुर ध्वनि का गुंजन चारों ओर सुनाते थे. "खुश," कहा मेंटर ने, "वो लोग हैं जिन पर एक बुद्धिमान राजा राज्य करता है." ("मेंटर" - ऑडीसी कथा का एक पात्र है जो उस कथा में टेलीमाकस के पिता ऑडीसस का दोस्त है) बाद में मेंटर ने ये इच्छा व्यक्त की कि मैं मिस्त्र राष्ट्र में, जहाँ बाईस हज़ार शहर गिने जाते थे, चारों ओर छाई खुशहाली और समृद्धि पर टिप्पणी करूँ. वह शहरों में पुलिस द्वारा लागू उत्तम नियमों की प्रशंसा करता था; जहाँ ग़रीब के पक्ष में और अमीर के विरुद्ध न्याय दिया जाता था; अच्छी शिक्षा बच्चों की जो (बच्चे) आज्ञापालन, मेहनत, एवं कला और पढ़ाई-लिखाई में निपुण थे; कड़ाई, जिसके साथ धर्म के सारे अनुष्ठान किए जाते थे; तटस्थता, सम्मान की आकांक्षा, सभी इंसानों के लिए बफ़ादारी, और देवताओं का डर, जो हर पिता अपने बच्चों में जगाता था. मेंटर इस राज्य की ऐसी समृद्ध अवस्था की पर्याप्त प्रशंसा नहीं कर पाता था. "खुश," उसने कहा, "हैं वो लोग, जिन पर एक बुद्धिमान राजा इस तरह शासन करता है."*

फेनलॉन की क्रीट के बारे में लिखी एक छोटी कविता तो और भी रोचक है (क्रीट - औड़ीसी ग्रंथ में बताया गया एक स्थान), जिसमें मेंटर से यह कहलवाया गया है:

> *इस निराले द्वीप में आप जो भी देखेंगे वह मिनोस (क्रीट का प्रथम राजा) के क़ानूनों का परिणाम है. बच्चों को जो शिक्षा मिलती है वह उनके शरीर को हष्ट-पुष्ट बना देती है. उन्हें शुरू से किफायती और मेहनती जीवन की आदत होती है; यह माना जाता है कि इंद्रियों के सभी आनंद शरीर और दिमाग़ को कमजोर कर*

देते हैं; उन्हें और किसी आनंद के बारे में नहीं बताया जाता सिवाय गुणों के द्वारा स्वयं अजेय बनना और बहुत प्रतिष्ठा प्राप्त करना ... यहाँ वे तीन ऐसे अवगुणों को दंडित करते हैं जो दूसरे जगहों में दंडित नहीं किए जाते हैं - कृतघ्न्ता, ढोंग-कपट, और लालच. और जहाँ तक सवाल है आडंबर और कामुकता का, इनको दंडित करने की ज़रूरत ही नहीं है, क्योंकि इन अवगुणों को तो क्रीट में कोई जानता भी नहीं है ... कोई महँगा फर्नीचर नहीं, कोई शानदार कपड़े नहीं, ना स्वादिष्ट दावतें, कोई चमक-दमक वाले महलों की अनुमति नहीं है.

इस तरह से मेंटर, अपने शिष्य को, इथाका वासियों को ढालने और तोड़ने-मरोड़ने के लिए तैयार करता है, बेशक सभी परोपकारी इरादों के साथ, और उसे इन विचारों में पक्का बनाने के लिए, वह उसे सेलेंटम (औड़ीसी किताब में बताया गया एक कस्बा) का उदाहरण देता है.

इस तरह से हमें अपने पहले-पहले राजनीतिक विचार मिले. हमें इंसानों से बिल्कुल वैसे ही व्यवहार करना सिखाया गया है जैसे औलिवर-डी-सैरेस (फ्रांसीसी कृषि वैज्ञानिक), किसानों को मिट्टी मिलाना और संभालना सिखाता है.

मोंटेस्क्यू (फ्रांसीसी दार्शनिक, जिनकी प्रख्यात किताब "क़ानूनों का सार" 1748 में छपी थी) -

व्यापार की सही भावना को बरकरार रखने के लिए, यह ज़रूरी है कि सभी क़ानून इसके पक्ष में हों; कि यही क़ानून, अपने नियमों से, जैसे-2 व्यापार किसी का भाग्य बनाता है, वैसे-2 उसी अनुपात में उसे (भाग्य को) बाँटते जाएँ, ताकि हर ग़रीब नागरिक को पर्याप्त अच्छी परिस्थितों में पहुँचाया जा सके जिससे वो दूसरों की तरह काम करने के काबिल बन सके, और हर अमीर नागरिक को ऐसी मुश्किल में (पहुँचा दिया जाए) कि वह, कुछ पाने या हासिल करने के लिए, काम करने पर मजबूर हो जाए.

अत: क़ानून सभी बने भाग्यों का निबटारा करने के लिए है.

हालाँकि चाहे लोकतंत्र में, सच्ची बराबरी लाना राष्ट्र की आत्मा होती है, फिर भी यह स्थापित करना बहुत मुश्किल होता है कि इस उद्देश्य (बराबरी लाना) के पीछे बहुत कड़ाई से पड़ना हमेशा अच्छा नहीं होगा. इतना काफ़ी है कि असमानता को कम करने और किसी एक स्तर तक लाने के लिए जनता में असमानता का माप किया जाए, उसके बाद, बराबरी लाना कुछ क़ानूनों पर छोड़ा जाए, अमीरों पर बोझ डाल कर और ग़रीबों को राहत देकर.

यहाँ हम पुन: भाग्यों को बराबरी पर लाना, क़ानून के द्वारा, यानि ज़बरदस्ती से, देखते हैं.

यूनान में दो तरह के राज्य थे. एक सैनिक राज्य, जैसे स्पार्टा, और दूसरे व्यापारिक राज्य, जैसे कि एथेंस. एक में ये चाहा गया था (किसके द्वारा चाहा गया था?) कि नागरिक खाली बैठें; और दूसरे में, मेहनत से प्रेम को प्रोत्साहित किया गया था.

यह हमारे लिए उपयुक्त होगा कि हम इस बात पर थोड़ा ध्यान दें कि इन क़ानून-निर्माताओं को कितनी अक्लमंदी की ज़रूरत होगी, ताकि हम ये देख सकें कि कैसे उन्होंने सारे गुणों को उल्टा-सीधा मिला कर, अपनी समझदारी दुनिया को दिखाई. लिकरगस (स्पार्टा का विख्यात क़ानून निर्माता) ने चोरी को न्याय-भाव से मिलकर, सबसे कठिन दास्यता को परम स्वतंत्रता से, सबसे क्रूर भावों को सर्वाधिक संयम से मिलाकर, अपने शहर के सभी संसाधन, कलाएँ, व्यापार, पैसा, और दीवारें हटा दीं; महत्वाकांक्षा तो थी लेकिन आगे बढ़ने की आशा के बिना; प्राकृतिक भावनाएँ तो थीं, वहाँ भी जहाँ कोई ना तो किसी का बच्चा था, ना पति, और ना पिता. यहाँ तक कि सात्विकता में नम्रता तक नहीं थी. इस रास्ते से स्पार्टा को यश और वैभव की ओर ले जाया गया.

यह नज़ारा जो हम यूनान के संस्थानों में देखते हैं, वहीं हमारे आधुनिक समय के नैतिक पतन और भ्रष्टाचार के बीच देखा जा चुका है. एक ईमानदार क़ानून निर्माता ने ऐसे लोग बना दिए जिनकी ईमानदारी इतनी प्राकृतिक दिखती थी जैसी स्पार्टा-वासियों में बहादुरी.

श्री पेन एक सच्चे 'लिकरगसी' (लिकरगस के विचारों वाले) हैं; और हालाँकि श्री पेन के पास उनकी प्रजा के लिए शांति थी और लिकरगस के पास (प्रजा के लिए) था युद्ध, लेकिन जिस तरह से वे अपनी प्रजा को एक अनूठी राह पर ले कर गये हैं, जैसा उनका स्वतंत्र इंसानों पर प्रभाव रहा है, जिस तरह वे पूर्वाग्रहों को जीत पाए, और तीव्र भावनाओं को काबू में लाए हैं, वे एक दूसरे (लिकरगस और श्री पेन) जैसे लगते हैं.

पेराग्वे (एक राष्ट्र) ने हमें एक और उदाहरण दिया है. समाज पर दूसरों पर हुक्म चलाने के सुख को ज़िंदगी की एक मात्र अच्छी बात मानने के ज़ुर्म का आरोप लगाया गया है; लेकिन लोगों को खुश करके उन पर शासन करना हमेशा एक आदर्श बात मानी जाएगी.

जिन्हें ऐसे संस्थानों को बनाने की इच्छा है, वे संपत्ति का समुदाय स्थापित करेंगे, जैसे कि प्लेटो के गणराज्य (रिपब्लिक ऑफ प्लेटो) किताब में, जैसी श्रद्धा उसने देवताओं के लिए रखने की आज्ञा दी, नैतिकता बचाने के लिए अजनबियों से दूर रहना, और शहरों से व्यापार करवाना, नागरिकों से नहीं; वैसे ही उन्हें हमें कला देनी चाहिए, वैभवता नहीं, हमारी ज़रूरतें देनी चाहिए, इच्छाएँ (तृष्णाएँ) नहीं.

अभद्र, लफंगे चमचे (चाटुकार) शायद, अगर चाहें तो, चीखें, "ये मोंटेस्क्यू है! शानदार, खास, विशिष्ट! (लेकिन) मैं नहीं डरता अपने विचार प्रकट करने से, और ये कहने से:

क्या! तुम्हारी ये हिम्मत कि तुम इसे अच्छा कहो? ये तो घिनोना है! और ये चुने हुए अंश (उनकी किताबों से), मैं और बहुत ज़्यादा अंशों का उदाहरण दे सकता हूँ, ये दिखाते हैं कि मांतेस्क्यू के अनुसार, इंसान, स्वतंत्रताएँ, संपत्ति, यहाँ तक कि खुद इंसानियत तक, और कुछ नहीं बस क़ानून बनाने वालों की बुद्धिमत्ता की चक्की में पीसा जाने वाला अनाज मात्र है.

ऱौसौ - हालाँकि यह राजनीतिज्ञ (ऱौसौ), लोकतांत्रियों का सबसे प्रमुख अधिकारी, ऐसा दिखाता है कि समाज का महल लोगों की इच्छा पर टिका है, और किसी ने इतना (ऱौसौ जितना) पूर्णतः, क़ानून निर्माता की उपस्थिति में, इंसानी स्वाभाव की निष्क्रियता को नहीं स्वीकारा है.

> *अगर ये सच है कि एक महान राजकुमार दुर्लभ होता है, तो एक एक महान क़ानून निर्माता तो और भी कितना दुर्लभ होगा?! क्योंकि पहले को (राजकुमार को) दूसरे के द्वारा (क़ानून-निर्माता के द्वारा) दिए गये ढाँचे-मात्र पर चलना होता है. क़ानून-निर्माता वो अभियंता है जो यंत्र इज़ाद करता है; राजकुमार मात्र वो कामगार है जो इसे चलाता है.*

और मामूली इंसानों की इस सब में क्या भूमिका होती है? एक यंत्र की, जिसे चलाया जाता है; या कहें तो, कहीं वे वो कठोर पदार्थ तो नहीं जिसका यंत्र बना है? इस तरह, क़ानून-निर्माता और राजकुमार के बीच, राजकुमार और उसकी प्रजा के बीच, वही संबंध होते हैं जो कृषि-विज्ञान के लेखक और किसान के बीच, किसान और मिट्टी के ढेले के बीच होते हैं. फिर देखिए कि राजनीतिज्ञ को कितनी उँचाई पर रखा गया है, जो क़ानून-निर्माता तक पर राज करता है, और उन्हें उनका ही काम निम्नलिखित आदेशात्मक शब्दों में सिखाता है:

> *क्या तुम राज्य को स्थिरता दोगे? किनारों और कगारों को जितना हो सके साथ में लाओ. ना अमीर को और ना ही ग़रीब को कष्ट दो.*
>
> *अगर मिट्टी खराब और बंजर है, या गाँव रहने वालों के लिए बहुत तंग हैं, तो कला और कारखानों की ओर चलो जिनके उत्पादों के बदले तुम्हें वह सब रसद-सामग्री मिल जाएगी जो तुम्हें चाहिए... अच्छी मिट्टी पर, अगर तुम्हारे पास रहने वालों की कमी है, तो अपना सारा ध्यान खेती पर लगाओ जिससे इंसानों की बढ़ोत्तरी होती है, और कलाओं पर रोक लगाओ जो सिर्फ़ गाँव की जनसंख्या कम करवाती है ... बहुत सारे और सुविधाजनक समुद्रतटों पर ध्यान दो. समुद्र को जलयानों से पाट दो, और तुम्हारा अस्तित्व चमकीला लेकिन क्षणिक होगा. अगर तुम्हारे समुद्र सिर्फ़ ऐसे पत्थर किनारे पर ला पटकते हैं जिनको लांघना मुश्किल है, तो*

नागरिकों को बर्बर, असभ्य रहने दो और मछली खाने दो; वो ज़्यादा शांति से रहेंगे, और शायद ज़्यादा बेहतरी से, और निश्चित ही ज़्यादा खुशी से. संक्षेप में, सभी पर लागू होने वाली कहावतों और सिद्धांतों के अलावा, सभी मनुष्यों की अपनी खास परिस्थिति होती है, जिसकी वजह से उनके लिए विशेष क़ानूनों की ज़रूरत होती है.

इस वजह से पहले यहूदियों और हाल में अरबों के पास उनका धर्म था उनके मुख्य उद्देश्य के लिए; जो एथेंस वासियों के लिए था - साहित्य; कार्थेज और टायर (शहरों के नाम) के वासियों का था - व्यापार; रोह्द्स (यूनान में एक द्वीप-समूह) का था - नौसेना के मामले; स्पार्टा (यूनान का एक मुख्य शहर) का था - युद्ध; और रोम का था - सदगुण. "क़ानूनों का सार" किताब के लेखक ने उस कला को समझाया है जिससे क़ानून-निर्माता अपने संस्थानों का निर्माण इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए करता है ... लेकिन अगर क़ानून-निर्माता, ग़लत उद्देश्य समझकर, ऐसा सिद्धांत अपना ले जो प्राकृतिक नहीं हो; अगर एक दासता की ओर ले जाए, और दूसरा आज़ादी की ओर; अगर एक समृद्धि की ओर और दूसरा आबादी की ओर; एक शांति की ओर और दूसरा युद्ध में विजय की ओर; तो क़ानून संवेदन-हीनता से कमज़ोर हो जाएगा, संविधान क्षीण हो जाएगा, और राज्य को लगातार आंदोलनों को झेलना पड़ेगा जब तक कि ये (राज्य) नष्ट न हो जाए, या बदल न जाए, और अपराजेय प्रकृति अपना साम्राज्य फिर से न पा ले.

लेकिन अगर प्रकृति अपना साम्राज्य दुबारा हासिल करने के लिए पर्याप्त मात्रा में अपराजेय है, तो क्यों नहीं रौसौ स्वीकार करता कि प्रकृति को क़ानून-निर्माता की शुरू से ही कोई ज़रूरत नहीं थी अपना साम्राज्य हासिल करवाने के लिए? वो (रौसौ) क्यों नहीं स्वीकारता कि अपने ही मनोवेग की आज्ञा-पालन करके, इंसान स्वयं ही उपजाऊ ज़मीन पर खेती करेगा, और व्यापक और विस्त्रत समुद्र-तटों पर व्यापार कर लेगा, बिना किसी लिकरगस, बिना किसी सोलोन, या किसी रौसौ के हस्तक्षेप के, कौन ये काम करेगा अपने-आप को धोखा देने का ज़ोख़िम उठाकर?

जैसा भी हो, हम देख सकते हैं कि रौसौ, अविष्कारकों, संस्थापकों, संचालकों, और अन्य समाज को जोड़-तोड़ से चलाने वालों को कितनी गंभीर ज़िम्मेदारी देता है. अत: वह इन सब लोगों के साथ बहुत सख़्त है.

उसे, जो लोगों के संस्थानों को चलाने की हिम्मत करता है, यह महसूस होना चाहिए कि, वह, बस यूँ कहिए कि, हर एक को पूरी तरह से बदल सकता है. हर कोई, चाहे वो अपने आप में स्वयं-सिद्ध हो, जो अपनी ज़िंदगी को, स्वयं को, एक बड़े समुदाय में पाता है जिसका कि वो एक हिस्सा है; उसे (सामाजिक संस्थान चलाने वाले को) यह लगना चाहिए कि वह इंसानी प्रवृत्ति को बदल सकता है; उसे मज़बूत बना सकता है, और उसके प्रकृति-प्रदाप्त शारीरिक और अलग-अलग अस्तित्व को सामाजिक और नैतिक अस्तित्व से बदल सकता है. संक्षेप में, उसे (सामाजिक संस्थान चलाने वालों को) इंसान को अपनी ही शक्तियों से वंचित करना होगा, ताकि वह उसे दूसरी शक्तियाँ प्रदान कर सके जिनसे वो अनभिज्ञ है.

बेचारी इंसानी प्रवृत्ति! क्या होता इसकी गरिमा का अगर ये रौसौ के शिष्यों के हाथ सौंपी जाती?

रेनल (एक फ्रांसीसी लेखक) -

आबोहवा, यानि कि हवा-पानी-मिट्टी क़ानून-निर्माता के लिए पहला तत्व है. उसके (क़ानून-निर्माता के) संसाधन ही उसके कर्तव्य निर्धारित करते हैं. अव्वल तो उसे अपनी स्थानीय परिस्थिति देखनी चाहिए. समुद्री किनारों पर रहने वाली आबादी के क़ानून, नौका-परिवहन के लिए उपयुक्त होने चाहिए... अगर उनकी बस्ती, एक अंदरूनी क्षेत्र में स्थित है तो क़ानून-निर्माता को मिट्टी के स्वभाव और मिट्टी की उर्वरता के हिसाब से क़ानून देने चाहिए...

ख़ासकर, संपत्ति को बाँटने में, क़ानून की बुद्धिमानी दिखेगी. यह एक सामान्य नियम है, और हर देश में, जब एक बस्ती स्थापित की जाए, हर आदमी को ज़मीन दी जाए जो उसको अपना परिवार को संभालने के लिए पर्याप्त हो...

एक असभ्य, बीहड़ द्वीप में, जिसे आप बच्चों को बसा कर उपनिवेशित कर रहे हैं, तर्क-विवेक के विकास के लिए, सच्चाई के बीज फैलने देना ही काफ़ी है. … लेकिन जब आप बूढ़े लोगों को एक नये देश में स्थापित करते हैं, तो कौशल इस बात में है कि आप उन्हें सिर्फ़ वही हानिकारक विचार और रीतियाँ वहाँ ले जाने दें जिनका इलाज और जिन्हें ठीक करना असंभव है (यानि जहाँ तक संभव हो, हानिकारक विचार और कुरीतियाँ नये देश में ना पहुँचने दें). अगर आप उन्हें सदा चलने देने से रोकना चाहते हैं, तो आप नयी पीढ़ी पर कार्य करेंगे, बच्चों की सार्वजनिक शिक्षा के द्वारा. एक राजकुमार या क़ानून-निर्माता को कभी भी कोई बस्ती, बिना पहले बुद्धिमान लोगों को वहाँ के युवाओं को सिखाने के लिए भेजे, स्थापित नहीं करनी चाहिए… एक नयी बस्ती में, हर संस्था, उस क़ानून-निर्माता की सावधानियों के लिए उपलब्ध है, जिसे जनता के स्वर और स्वभाव की शुद्धि करने की इच्छा है. अगर उसमें प्रतिभा और सदगुण हैं, तो वो ज़मीन और आदमी जो उसके हाथ में हैं, उसकी अंतरात्मा एक ऐसे समाज की कल्पना से प्रेरित करेंगे कि जिसको एक लेखक तो मुश्किल से थोड़ा-बहुत, अस्पष्टता से, समझ सकता है, और इस तरह से (समझेगा), जो आम परिकल्पनाओं (अनुमानों) के असंतुलनों से ग्रसित होगी, और जो असंख्यों परिस्थितियों द्वारा बदलती है और उलझती है, और जो पहले से समझने और उनका एक साथ असर जानने के लिए बहुत मुश्किल है.

कोई सोचेगा कि शायद यह सब कोई कृषि-विज्ञान का प्राध्यापक अपने छात्रों से कह रहा होगा:

किसान के लिए मौसम ही एकमात्र नियम है. उसके संसाधन ही उसे उसके कर्तव्य बताते हैं. पहली चीज़ जो उसे देखनी पड़ती है वो है उसकी स्थानीय परिस्थितियाँ. जैसे अगर वह चिकनी मिट्टी पर है, तो उसे ऐसा-ऐसा करना ज़रूरी है. अगर उसे रेत का सामना करना है, तो उसे इस-इस तरह से कुछ करना है. उस किसान को सभी सुविधाएँ हैं जो अपनी मिट्टी को साफ और बेहतर बनाना चाहता है. अगर उसके पास कौशल है, तो, उसके पास जो खाद है वही उसे एक ऐसी कार्य-योजना सुझाएगी जो एक प्राध्यापक मुश्किल से थोड़ा-बहुत अस्पष्टता से समझ पाएगा, और वो भी इस तरह से (समझेगा) जो आम परिकल्पनाओं (अनुमानों) के असंतुलनों से ग्रसित होगी, और जो असंख्यों परिस्थितियों द्वारा बदलती है और उलझती है, और जो पहले से समझना और जिनका असर जानना बहुत मुश्किल है.

लेकिन, ओहो! उत्कृष्ट लेखकों, कभी ये याद रखने की भी कृपा कर लो कि यह मिट्टी, यह रेत, यह खाद जिसको तुम मनमाने ढंग से निपटा रहे हो, इंसान हैं! तुम्हारी बराबरी के, तुम्हारे जैसे ही बुद्धिमान और स्वतंत्र, जिन्हें, जैसे तुम्हें मिलीं हैं, वैसे ही ऊपरवाले से मिलीं हैं - देखने-सोचने की शक्ति, दूरदर्शिता, और अपने निर्णय आप लेने की क्षमता!

माबली (एक फ्रांसीसी दार्शनिक) - (ये कल्पना करते हुए, कि, क़ानून, समय के साथ और सुरक्षा की लापरवाही से, घिस जाते हैं, यह कहता है):

> *इन परिस्थितियों में (यानि समय के साथ और सुरक्षा के मामले में लापरवाही बरतने पर) हमें पूर्ण विश्वास होना चाहिए कि सरकारी बंधन ढीले हो जाएँगे. उन्हें एक नया तनाव दें (यहाँ पाठक को संबोधित किया जा रहा है), और अनिष्ट का निवारण हो जाएगा … बुराइयों को दंड देने की कम सोचें और अच्छाइयों को बढ़ावा देने की ज़्यादा (जिन अच्छाइयों को आप चाहते हैं). इस तरह से आप अपने गणराज्य को एक युवाशक्ति प्रदान करेंगे. इस विधि से अन्नभिज्ञ होने पर स्वतंत्र लोग अपनी स्वाधीनता खो चुके हैं! लेकिन अगर बुराइयाँ इतनी ज़्यादा अंदर घुस चुकी हैं कि सामान्य न्यायाधीश ठीक से इनका निवारण करने में अक्षम हैं तो एक असाधारण न्यायाधीश का सहारा लीजिए, जिनको कम समय के लिए नियुक्त किया जाए और जिसके पास बहुत से अधिकार हों. नागरिकों की कल्पना-शक्ति को प्रभावित करना ज़रूरी होता है.*

इसी अंदाज़ में वह (माबली) 20 ग्रंथों तक लिखता गया है.

एक समय था जब इस तरह की शिक्षा के प्रभाव में, जो पुरातन काल से चल रही शिक्षा की नींव है, हर कोई स्वयं को मानवता से आगे और ऊपर समझ रहा था ताकि वह बेचारी असहाय मानवता को सँजो सके, संगठित कर सके, और अपने तरीके से, ठीक से, स्थापित कर सके.

कौंडीलाक (एक फ्रांसीसी दार्शनिक) -

मीलॉर्ड (शायद किसी राजा को संबोधित करते हुए), आप लीकर्गस या सोलन की चरित्रात्मा को धारण कर लें. (लीकर्गस और सोलन प्राचीन यूनान के विख्यात क़ानून-निर्माता थे) यह लेख पढ़ना समाप्त करने से पहले, अमेरिका या अफ़्रीका के कुछ जंगली लोगों को क़ानून दे कर अपना मनोरंजन करें. इन खानाबदोशों को स्थाई घरों में बसाएँ; उन्हें भेड़-बकरियाँ पालना सिखाएं … उनमें वे सामाजिक गुण विकसित करवाने का प्रयास करें जो प्रकृति ने उनमें स्थापित किए थे … उन्हें मानवजाति के कर्तव्यों का पालन करने का अभ्यास शुरू कराएँ … उनमें, दंड द्वारा, वासना के उपभोगों के प्रति अप्रियता लाएँ, और आप स्वयं देखेंगे कि ये असभ्य-जंगली लोग, आपके हर क़ानून की योजना से, एक अवगुण खोएंगे और एक सदगुण पाएँगे.

इन सभी लोगों के पास क़ानून थे. लेकिन उनमें से कुछ ही खुश रहे हैं. ऐसा क्यों है? क्योंकि क़ानून-निर्माता लगभग हमेशा से समाज के उद्देश्य से अन्नभिज्ञ रहे हैं - जो है परिवारों को एक सामान्य लाभ के लिए एक साथ जोड़ना.

क़ानून में तटस्थता दो बातों में होती है, भाग्यों को बराबर लाने में और नागरिकों की इज़्ज़त में … जितना क़ानून नागरिकों में बराबरी स्थापित करेंगे उतना ही वे (क़ानून) हर नागरिक के प्रिय होते जाएँगे. लालच, महत्वाकांक्षा, अपव्यय, निठल्लापन, आलस्य, ईर्ष्या, घृणा, द्वेष, उन इंसानों को कैसे उत्तेजित कर सकती है, जिनके भाग्य और इज़्ज़त बराबरी की हैं, और जिनको क़ानून के द्वारा इसमें (यानि बराबरी इत्यादि में) विघ्न पड़ने की कोई आशंका नहीं है?

आपको स्पार्टा के गणराज्य के बारे में जो बताया गया है उससे आपको इस प्रश्न को समझने में मदद मिलेगी. किसी भी और देश के क़ानून स्पार्टा के क़ानून से ज़्यादा प्रकृति और बराबरी के अनुसार नहीं रहे हैं.

इस बात का आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि सत्रहवीं और अठाहरवीं शताब्दियों में मानव जाति को एक जड़-प्रदार्थ जैसा देखा गया जो सब कुछ - रूप, आकार, संवेग, गति, और यहाँ तक कि ज़िंदगी तक - मानने और स्वीकारने को तैयार है, जो

अगर मिला है किसी महान राजकुमार से, या किसी महान क़ानून-निर्माता से, या किसी और महान प्रतिभा से. उन युगों का आगमन और विकास ही हुआ था पुरातनता का अध्ययन करते-करते; और पुरातनता प्रस्तुत करती है, हर जगह - मिस्त्र में, फ़ारस (आधुनिक ईरान) में, यूनान में, और रोम में, चन्द इंसानों का संपूर्ण मानवता को अपने मन-माफिक ढालने का कौतुक, और मानवता का इस तरह की दासता में चले जाना - ज़बरदस्ती से या धोखे से. और इससे क्या साबित होता है? यह कि, क्योंकि इंसान और समाज सुधारे जा सकते हैं, ग़लती, अज्ञान, तानाशाही, दास्यता, और अंधविश्वास प्राचीनकाल में अवश्य रहा होगा. उपरोक्त लेखकों की ग़लती ये नहीं है कि उन्होंने इस तथ्य को दृढ़ता से कहा है, बल्कि ये है कि उन्होंने इसे एक नियम या क़ानून की तरह से पेश किया है, भविष्य की पीढ़ियों के द्वारा प्रशंसा और अनुकरण किए जाने के लिए. उनकी ग़लती ये रही है कि, उन्होंने, इतने ज़्यादा अविवेक से, जो समझ से परे है, और बचकानी परंपराओं पर पूरा भरोसा रखते हुए, वो मान लिया है जो अमान्य है, यानी कि, प्राचीन कालों के बनावटी समाजों का वैभव, मर्यादा, सदाचार, और कुशल-क्षेम; उन्होंने ये नहीं समझा है कि समय के साथ-साथ ज्ञान पैदा होता है, बढ़ता है, और फैलता है; और जितना ज़्यादा ज्ञान फैलता है, उतना ही अधिकारों को ज़बरदस्ती कायम रखने की ज़रूरत नहीं पड़ती, और समाज स्वयं पर पुन: अधिकार (नियंत्रण) प्राप्त कर लेता है.

और, वाकई, वो राजनैतिक कार्य क्या है जिसे हम बढ़ावा देने का प्रयास कर रहे हैं? ये कार्य और कुछ नहीं, बल्कि सब तरह के लोगों का, स्वतंत्रता की ओर जाने का स्वाभाविक प्रयास है. और स्वतंत्रता क्या है, जिसके नाम से ही हर दिल धड़क सकता है, और दुनिया में हलचल मच सकती है, और कुछ नहीं बल्कि सभी स्वतंत्रताओं का मिलन --- अंतरात्मा की स्वतंत्रता, शिक्षा, मेल-जोल, मुद्रणालय (अख़बार इत्यादि छापने के लिए), आने-जाने, काम करने, और विनिमय की स्वतंत्रता; दूसरे शब्दों में सब तरह की तानाशाहियों का विनाश (क़ानूनी तानाशाही का भी), और क़ानून को सिर्फ़ इसके तर्कसंगत दायरे तक सीमित रखना, जो है, व्यक्तिगत, वैध, स्वयं-रक्षा या अन्याय को रोकने के अधिकार को विनियमित करने का दायरा.

मानवजाति की ये प्रकृति, ये मानना पड़ेगा, बहुत ज़्यादा रोकी जाती है (ख़ासकर हमारे देश में) --- पुरानी शिक्षा से पैदा होने वाली और सभी राजनीतिज्ञओं में उपस्थित घातक प्रवृत्ति के द्वारा, जो है खुद को मानवजाति से बढ़कर समझने की प्रवृत्ति, ताकि इसको (मानवजाति को) राजनीतिज्ञ अपनी सनक के अनुसार संगठित, आयोजित, और नियमित कर सके.

क्योंकि जहाँ एक तरफ समाज स्वतंत्रता को वास्तविकता बनाने के लिए जूझ रहा है, वहीं वो महानुभाव इंसान जो खुद को इसके (समाज के) शीर्ष पर समझते हैं; जो महानुभाव इंसान सत्रहवीं और अठाहरवीं शताब्दियों के सिद्धांतों से रंगे हुए हैं; समाज पर सिर्फ़ (मात्र!) परोपकारी तानाशाही लागू करने की सोचते हैं जो इनका (इन महानुभावों का) सामाजिक अविष्कार है, और समाज को विनम्रता से झेलने पर मजबूर करते हैं, रौसौ के शब्दों में, खुद के (जनता या समाज के) परम-सुख का बोझ ('परम-सुख' इन महानुभावों की कल्पनाओं में).

यह स्थिति ख़ासकर थी - 1789 में. जैसे ही पुरानी व्यवस्था नष्ट हुई, वैसे ही समाज को दूसरी, कृत्रिम व्यवस्थाओं के सुपुर्द कर दिया जाता था, और हमेशा एक ही बिंदु से शुरुआत से - क़ानून की हर जगह सर्वशक्ति.

संत जस्ट (फ्रांसीसी क्रांति के समय के एक सैन्य और राजनैतिक नेता) -

> *क़ानून-निर्माता भविष्य को नियंत्रण में रखता है. मानवता की भलाई की इच्छा-शक्ति रखना उसी पर है. इंसानों को जो भी वो बनाना चाहता है, वो बनाना भी उसी पर है.*

रौबेसपिएरे (फ्रांसीसी क्रांति के समय के एक वकील और राजनेता) -

> सरकार का काम है राष्ट्र की शारीरिक और नैतिक शक्तियों को इसकी (राष्ट्र की) संस्थापना के समय के उद्देश्य की ओर ले जाना.

बिल्लौड वेयरेनस (फ्रांसीसी क्रांति के समय की एक शक्सियत) -

> *उन लोगों को जिन्हें स्वतंत्रता पुन: बहाल करनी है, नये सिरे से बनाना पड़ेगा. प्राचीन पूर्व-धारणाएँ नष्ट करनी होंगी, घिसे-पिटे रीति-रिवाज बदलने होंगे, भ्रष्ट इच्छाओं को ठीक करना पड़ेगा, पुराने दोषों को जड़ से काटना होगा. इस सबके लिए एक मजबूत ताक़त और प्रचंड धक्का ज़रूरी होगा...देशवासियों, लीकर्गस की*

दृढ़ तपस्या ने स्पार्टा के गणराज्य की मजबूत नींव रखी थी. सोलन की कमज़ोरी और दूसरों पर भरोसा करने वाली प्रवृत्ति ने एथेंस को गुलामी में झोंक दिया. इस साम्यता (उपमा) में समूचा शासन-विज्ञान आ जाता है.

लेप्पेलेटीएर (एक फ्रांसीसी राजनीतिज्ञ) -

मानवता के गिरने की हद देखते हुए, मुझे इस समूची जाति का पुनर्निर्माण करना ज़रूरी है, ऐसा (मुझे) यकीन हो चुका है, और अगर मैं अपनी बात खुल के कहूँ तो, समझिए कि एक नयी जाति का ही निर्माण ज़रूरी है.

अत:, इंसान और कुछ नहीं बल्कि एक कच्चा माल है. अपने सुधार की इच्छा-शक्ति उसमें है. लेकिन उसमें इसकी क्षमता नहीं है; संत जस्ट के अनुसार, सिर्फ़ क़ानून-निर्माता है जो कि इस कार्य में सक्षम है. इंसान वही बनने के लिए होते हैं जो वो (क़ानून-निर्माता) चाहता है. रौबेसपिएरे (जो रौसौ की नकल करता है) के अनुसार, क़ानून-निर्माता को शुरुआत करनी होती है - राष्ट्र के संस्थानों के ध्येय स्थापित करने से. तदोपरांत सरकार को सिर्फ़ अपनी सारी भौतिक और नैतिक ताकतें इस ओर लगानी होती हैं. इस सारे समय, राष्ट्र को बिल्कुल शांत बने रहना होता है; और बिल्लौड वेयरेनस हमें सिखाएँगे कि राष्ट्र को कोई पक्षपात, स्नेह, या कोई ज़रूरतें नहीं होनी चाहिए सिवाय उनके जो क़ानून-निर्माता द्वारा अधिकृत की गयी हैं. वह तो यहाँ तक कहते हैं कि इंसान का कठोर आत्मसंयम ही एक राज्य का आधार होता है.

हम देख चुके हैं कि, उन स्थितियों में जहाँ बुराई इतनी बड़ी है कि सामान्य न्यायाधीश ठीक करने में अक्षम हैं, मेबली ऐसी तानाशाही लाने की सिफारिश करते हैं जो सगुणों को बढ़ावा दे. “सहारा लें,” वह कहते हैं, “एक ऐसे असाधारण न्यायाधीश का, जिसका कार्यकाल संक्षिप्त होगा, और जिसके अधिकार बहुत से. जनता की कल्पना-शक्ति पर प्रभाव डालना ज़रूरी होता है.” इस सिद्धांत की उपेक्षा नहीं की गयी है. सुनिए रोबेस्पियर को:

गणतांत्रिक सरकार का सिद्धांत है - सदगुण, और इसको स्थापित करने के दौरान, जो तरीका अपनाया जाना है, वो है दहशत. हम हमारे देश में अदला-बदली करना चाहते हैं - आत्ममोह की नैतिकता से, सम्मान

की ईमानदारी से, रिवाजों की सिद्धांतों से, शिष्टता की कर्तव्यों से, फैशनी निरंकुश्ता की तर्कों के आधिपत्य से, दुर्भाग्य के निरादर की अवगुण के निरादर से, ढीठता की गर्व से, घमंडता की आत्मा की महानता से, पैसे के प्रति प्यार की प्रतिष्ता से प्रति प्यार से, अच्छी संगत की अच्छे लोगों से, दबी-छुपी साज़िशों की सिर्फ़ काबिलियत से, वाक-पटुता की महज प्रतिभा से, चमक-दमक की सच्चाई से, भोग-विलास के थकान की सच्ची खुशी की आभा से, बड़े कहे जाने वाले लोगों के छोटेपन की छोटे कहे जाने वाले लोगों के बड़प्पन से, आसानी से बहकने वाले, छिछोरे, गिरे हुओं की उदार-हृद्य, बलवान, और प्रसन्न-चित्त लोगों से; कहने का मतलब, हम राजशाही के सभी अवगुणों और बेतुकेपनों की अदला-बदली कर देंगे प्रजातंत्र के सद्गुणों और चमत्कारों से.

यहाँ रोबेस्पियर ने खुद को शेष मानवता से कितना ज़्यादा उपर रखा है! और ज़रा देखिए वह कितने गर्व से यह सब कह रहा है. वह इंसान के हृदय के नवीनकरण की इच्छा व्यक्त करने मात्र से संतुष्ट नहीं है, उसे साधारण सरकार से ऐसे परिणाम पाने की उम्मीद भी नहीं है. नहीं, वह स्वयं ही यह कार्यान्वित करने का इरादा रखता है, और वो भी दहशत के माध्यम से. जहाँ से उपरोक्त बचकाने और मुश्किल से शब्दों का ढेर निकाला गया है, उस प्रवचन का उद्देश्य था उस नैतिकता के सिद्धांतों की प्रदर्शनी लगाना जिनको एक क्रांतिकारी सरकार को निर्देशित करना चाहिए. और जब रोबेस्पियर तानाशाही की माँग करता है, तो वो किसी विदेशी शत्रु को वापस धकेलने मात्र या राष्ट्र की आंतरिक गुटबंदी कम करने के लिए नहीं है; वो इसलिए है ताकि वह, दहशत के द्वारा, देश से जड़-समेत उखाड़ने का नाटक कर सके, ये सब चीज़ें (इनसे कम नहीं!) - स्वहित, प्रतिष्ठा, रीतियाँ, अदब-तमीज़, फैशन, अभिमान, पैसे से प्यार, आनंददायक संगति, दबी-छुपी अफवाहें, वाक-पटुता, भोग-विलास, और कंजूसी. जब तक वह, रोबेस्पियर, ये सब चमत्कार (जैसा वह इन्हें, सही शब्दों में, पुकारता है) हासिल नहीं कर लेता, तब तक वह क़ानून को अपना आधिपत्य पुनर्स्थापित नहीं करने देगा. सच में, अच्छा होता अगर ये सारे दूरदर्शी, जो अपने को इतना महान समझते हैं और मानवजाति को इतना छोटा, कि वे सभी चीज़ों का स्वयं नवनिर्माण करना चाहते हैं, खुद में ही सुधार लाने की कोशिश करके संतुष्ट रहते, तो ये कार्य भी उनके लिए काफ़ी कठिन रहता. लेकिन ज़्यादातर ये भलेमानस, ये सुधारक, क़ानून-निर्माता, और राजनीतिज्ञ, मानवजाति पर तत्काल तानाशाही करने की इच्छा नहीं रखते. नहीं, उसके लिए तो ये बहुत नरमदिल और बहुत उदार हैं. ये तो सिर्फ़ संघर्ष करते हैं - तानाशाही, निरंकुशता, सर्व-शक्ति से - क़ानून को स्थापित करने के लिए. उनकी आकांक्षा तो सिर्फ़ वो क़ानून बनाने की है.

ऐसी अजीब मनोवृत्ति फ्रांस में कितनी व्यापक है, यह दिखाने के लिए मुझे सिर्फ़ माबली, रीनल, रौसौऊ, फेनलान की संपूर्ण कृतियाँ कॉपी करने की और बौसुये और मोंटेस्कयु की रचनाओं से लंबे भागों को लेने की ज़रूरत नहीं थी, बल्कि सभा की बैठकों के संपूर्ण कार्यों का आलेख भी दे सकता था (यहाँ 'सभा' से तात्पर्य फ्रांस में 10 अगस्त 1792 में हुए विद्रोह के बाद स्थापित तीसरी सरकार से है). हालाँकि मैं ऐसा कुछ नहीं करूँगा, बस पाठक को इनका सन्दर्भ मात्र दूँगा.

कोई आश्चर्य नहीं कि यह विचार बोनापार्टे को इतना सूट करता था. उसने इस विचार को उत्साह से अपना लिया और उर्जा-पूर्वक अमल में लगा दिया. वो (बोनापार्टे) रसायनज्ञ का किरदार कर रहा था और यूरोप उसके लिए प्रयोग का सामान था. लेकिन यह प्रयोग का पदार्थ उसके ही खिलाफ प्रतिक्रिया कर गया. आधे से ज़्यादा बिना धोखा खाए, संत हेलेना (एक स्थान का नाम) पर (बोनापार्टे) यह मानता सा लगा कि सभी लोगों में एक पहल होती है, और वह (बोनापार्टे) स्वतंत्रता के कम खिलाफ हो गया. फिर भी यह समझ उसे अपनी वसीयत में ये सीख अपने बेटे को देने से नहीं रोक पाई - “शासन करने का मतलब - नैतिकता, शिक्षा, और सलामती फैलाना.”

इस सबके बाद, मुझे क्या ज़रूरत है अक्षरष: हवाले देने की, मोरेली (एक फ्रांसीसी विचारक और उपन्यासकार), बेबेउफ (एक फ्रांसीसी आंदोलन कर्ता और पत्रकार), ओवेन (रॉबर्ट ओवेन - वेल्स, यूनाइटेड किंगडम में जन्मा एक समाज सुधारक और काल्पनिक आदर्श समाजवाद के संस्थापकों में से एक), संत सिमोन (एक फ्रांसीसी राजनीतिज्ञ, अर्थ शास्त्री, और व्यापारी), और फुरिया (एक फ्रांसीसी दार्शनिक, समाजवादी विचारक, और काल्पनिक आदर्श समाजवाद के संस्थापकों में से एक) के विचारों की भी?! मैं खुद को लुई ब्लॅंक (एक फ्रांसीसी राजनीतिज्ञ और इतिहासकार) की श्रम-संगठन पर लिखी किताब के चन्द अंशों का सन्दर्भ देने तक सीमित रखूँगा.

“हमारी परियोजना में समाज को ताक़त का धक्का मिलता है.”

ताक़त जो धक्का समाज को देता है, वह धक्का किसमें जाता है? श्री लुई ब्लॅंक की परियोजना इस पर (समाज पर) थोपने में.

दूसरी ओर, मानव-जाति ही समाज है. तो फिर मानव-जाति को खुद पर धक्का श्री लुई ब्लॅंक से लगवाना है.

अब ये कहा जाएगा कि यह (मानव-जाति) ऐसा करने या ना करने को स्वतंत्र है (यानि खुद पर धक्का श्री लुई ब्लॅंक से लगवाने या ना लगवाने को स्वतंत्र है) . बेशक मानव-जाति किसी से भी सलाह लेने या ना लेने की स्वतंत्रता रखती है. लेकिन श्री लुई ब्लॅंक इस बात को इस तरह से नहीं समझते. उनका मतलब है कि उनकी परियोजना को क़ानून में तब्दील कर दिया जाना चाहिए.

> *हमारी परियोजना में, राज्य को श्रम को सिर्फ़ क़ानून देना होता है, जिसके द्वारा औद्योगिक आंदोलन, पूरी स्वतंत्रता से संपूर्ण हो सकता है और अवश्य ही हो जाना चाहिए. राज्य समाज को सिर्फ़ एक ढलान पर रख देता है (बस इतना ही करता है) ताकि वह वहाँ रखे जाने पर, अवरोह कर सके, चीज़ों को मात्र स्वत: के बल द्वारा और पूर्व-स्थापित तंत्र के प्राकृतिक मार्ग द्वारा.*

लेकिन ये ढलान क्या है? वही जो श्री लुई ब्लॅंक ने दिखाई. क्या ये (ढलान) पाताल की ओर नहीं ले जाती? नहीं, यह खुशियों की ओर ले जाती है. फिर, क्यों नहीं समाज अपने आप ही उधर जाता? क्योंकि समाज को नहीं पता कि वह क्या चाहता है, और इसे चाहिए एक धक्का. कौन इसको यह धक्का देगा? ताक़त देगी (इसको यह धक्का). और ताक़त को धक्का कौन देगा? मशीन के आविष्कारक, श्री लुई ब्लॅंक.

हम इस चक्र से कभी बाहर नहीं निकल सकेंगे - मानवजाति निष्क्रिय, और एक महान इंसान इसको हिलाता है, चलाता है, क़ानून के हस्तक्षेप द्वारा. एक बार इस ढलान पर आने पर, क्या समाज स्वतंत्रता जैसी किसी चीज़ का आनंद ले पाएगा? बेशक. और स्वतंत्रता क्या है?

एक आख़िरी बार बता रहा हूँ: स्वतंत्रता सिर्फ़ दिए गये अधिकार में नहीं होती बल्कि इंसान को इस्तेमाल की जाने वाली दी गयी ताक़त में होती है, ताकि वह अपने गुणों को न्याय के साम्राज्य में और क़ानून की छत्रछाया में विकसित कर सके.

और यह कोई बेकार का मामूली सा अंतर नहीं; इसमें एक गहरा अर्थ है, और इसके परिणामों का आकलन कर पाना आसान नहीं है. क्योंकि जब ये मान लिया जाता है कि इंसान को, सच में स्वतंत्र होने के लिए अपने गुण और शक्तियाँ विकसित करने की छूट होनी चाहिए, तो इससे ये तात्पर्य निकलता है कि समाज का हर सदस्य ऐसी शिक्षा पाने की माँग कर सकता है जो उसके गुणों को उभार के उपर ला सके. और समाज का हर सदस्य काम के साधनों की माँग कर सकता है जिनके बिना मानवीय गतिविधि की कोई गुंजाइश ही नहीं रहेगी. अब राज्य के हस्तक्षेप के बिना, समाज अपने हर सदस्य को ज़रूरी शिक्षा और काम के साधन कैसे प्रदान कर सकेगा?

अत: स्वतंत्रता शक्ति है. यह शक्ति किसमें होती है? शिक्षा और कार्य के साधन उपलब्ध होने में. शिक्षा और काम के साधन कौन उपलब्ध करायेगा? समाज, जो इनका देनदार है. समाज, कार्य के साधन, उन लोगों को, जिनके पास ये नहीं हैं, किसके हस्तक्षेप से उपलब्ध करायेगा? राज्य के हस्तक्षेप से. राज्य को ये कहाँ से मिलेंगे?

इस सवाल का ज़वाब देना, और ये भी देखना कि यह चर्चा किस ओर जा रही है, पाठकों के उपर है.

हमारे समय की सबसे विचित्र घटनाओं में से एक, जिस पर हमारे आने वाले वंशजों को शायद अचंभा होगा, है यह सिद्धांत जो इन तीन परिकल्पनाओं पर आधारित है: 1. मानवजाति की उग्र और आक्रामक निष्क्रियता - 2. क़ानून की सर्वशक्ति - 3. क़ानून-निर्माता का कभी भी ग़लत ना होना; ये पावन चिह्न हैं उस दल के जो खुद के बिल्कुल पूर्णत: लोकतांत्रिक होने का ढिंढोरा पीटता है.

यह सच है कि यह खुद के सामाजिक होने का दम भी भरता है.

जहाँ तक इसके लोकतांत्रिक होने की बात है, इसे मानवजाति पर असीम भरोसा है.

जहाँ तक इसके सामाजिक होने की बात है, यह मानवजाति को कीचड़ से भी नीचे समझता है.

क्या राजनीतिक अधिकारों पर विचार-विमर्श हो रहा है? क्या कोई विधायक चुना जाना है? ओह, तब तो लोगों की सहज-प्रवृत्ति तक भी वैज्ञानिक है: उनके पास अच्छे-बुरे के पहचान की सराहनीय प्रतिभा है; उनकी इच्छा-शक्ति हमेशा सही होती है; लोगों में प्रचलित कोई भी इच्छा ग़लत नहीं हो सकती. सार्वभौमिक मताधिकार कभी भी हद से ज़्यादा सार्वभौमिक नहीं हो सकता. समाज के प्रति किसी का कोई उत्तरदायित्व नहीं है. सही चुनाव करने की इच्छा और क्षमता तो समाज में होंगे ही, ऐसा मान कर चला जाता है. क्या जनता ग़लत हो सकती है? क्या हम ज्ञान-प्राप्ति के युग में नहीं रह रहे? क्या?! क्या लोगों को ज़िंदगी भर नकेल लगा के घसीटा जाता रहेगा? क्या उन्होंने मेहनत और बलिदानों की कीमत देकर अपने अधिकार प्राप्त नहीं किए है? क्या उन्होंने अब तक बुद्धिमानी और समझदारी के पर्याप्त प्रमाण नहीं दे दिए हैं? क्या वे परिपक्वता तक नहीं पहुँचे हैं? क्या वे अपने निर्णय स्वयं करने की अवस्था में नहीं हैं? क्या उन्हें खुद के भले-बुरे क्या ज्ञान नहीं है? क्या कोई भी ऐसा इंसान या वर्ग है जो खुद को जनता की जगह रखने की, उनके निर्णय लेने और काम करने के अधिकार का दावा करने की हिम्मत करेगा? नहीं, नहीं; लोग स्वतंत्र रहेंगे, ज़रूर रहेंगे. उन्हें अपने मामले खुद देखने-चलाने की इच्छा होती है और वे खुद ही देखेंगे-चलाएँगे.

लेकिन एक बार जब विधायक या सांसद विधिवत चुना जाता है, तब वाकई उसके बोलने का ढंग ही बदल जाता है. राष्ट्र को निष्क्रियता, स्थिरता, शून्यता की ओर भेज दिया जाता है और विधायक सर्वशक्ति हासिल कर लेता है. अब उसी के उपर होता है खोज करना, निर्देश देना, धक्का देना, संगठित करना. मानवजाति को और कुछ नहीं करना बस खुद को समर्पित करना है; तानाशाही की घड़ी आ गयी है. और हमें ये देखना चाहिए कि यह निर्णयात्मक घड़ी है; क्योंकि जनता, जो अब तक इतनी समझदार, इतनी नैतिक, इतनी दोष-हीन थी, अब बिना किसी इच्छा और झुकाव या दिलचस्पी के है, या अगर है भी तो ऐसी (इच्छा और झुकाव) कि उनको अधोगति की ओर ले जाने वाली, लेकिन फिर भी उनको थोड़ी-बहुत स्वतंत्रता तो होनी चाहिए! क्या हमें 'श्रीमान सोच-विचार' से ये आश्वासन नहीं मिला कि स्वतंत्रता की एक घातक प्रवृत्ति होती है एकाधिपत्यता की ओर ले

जाना? क्या हमें ये नहीं बताया गया कि स्वतंत्रता प्रतिस्पर्धा है? और प्रतिस्पर्धा श्री लुई ब्लॅंक के अनुसार, जनता को मटियामेट कर देने की और व्यापार को बर्बाद कर देने की व्यवस्था है? इस वजह से लोग जितनी मात्रा में स्वतंत्र हैं, उसी अनुपात में वे मटियामेट भी हो जाते हैं, बर्बाद हो जाते हैं - बाउदाहरण, स्विट्ज़र्लॅंड, हॉलॅंड, इंग्लेंड, और सयुंक्त राज्य अमेरिका? क्या श्री लुई ब्लॅंक हमें दुबारा नहीं बताते कि प्रतिस्पर्धा एकाधिपत्यता की ओर ले जाती है और उसी वजह से सस्तापन अतिशय महंगाई की ओर ले जाता है? कि प्रतिस्पर्धा उपभोग के स्रोत को सुखा सा देती है, और उत्पादन को विनाशात्मक गतिविधि की ओर मोड़ देती है? कि प्रतिस्पर्धा उत्पादन को बढ़ने पर मजबूर करती है, और उपभोग को कम करती है - जिससे साबित होता है कि स्वतंत्र लोग उपभोग करने मात्र के लिए उत्पादन नहीं करते; कि उनके बीच (स्वतंत्र लोगों के बीच) और कुछ नहीं बल्कि उत्पीड़न और पागलपन है; और यह अत्यंत आवश्यक है कि श्री लुई ब्लॅंक इस मामले की जाँच करें?

इंसानों को किस तरह की स्वतंत्रता की अनुमति होनी चाहिए? अंत:करण की स्वतंत्रता? - लेकिन तब हम देखेंगे के वे सभी नास्तिक बनने की अनुमति पा कर लाभ उठा रहे होंगे. शिक्षा की स्वतंत्रता? - लेकिन तब माता-पिता अध्यापकों को अपने बच्चों को अनैतिकता और ग़लत बातें सीखने के पैसे दे रहे होंगे; इसके अलावा, अगर हम श्री थियर्स (एक फ्रांसीसी राजनेता और इतिहासकार) की बात सही मानें तो, शिक्षा, अगर राष्ट्रीय स्वतंत्रता के भरोसे छोड़ दी जाए तो, वह राष्ट्रीय नहीं रहेगी, और हम अपने बच्चों को तुर्कों या हिंदुओं के विचार सिखा रहे होंगे (जो कि फ्रांस के दृष्टिकोण से विदेशी हैं), जिसकी जगह, धन्य है विश्वविद्यालयों की क़ानूनी तानाशाही, उनके (हमारे बच्चों के) अहोभाग्य कि उन्हें रोम-वासियों के आदर्श विचार सीखने को मिले! क़ाम की स्वतंत्रता? लेकिन यह सिर्फ़ प्रतिस्पर्धा है, जिसका असर होगा सब उत्पादों को बिना इस्तमाल छोड़ देना, लोगों को मिटा देना, और व्यापारिओं का विनाश कर देना. विनिमय की स्वतंत्रता? लेकिन यह सबको पता है क्योंकि संरक्षणवादियों ने ये बार-बार दिखा दिया है कि जब स्वतंत्रता से विनिमय कर सकेगा तब तो इंसान अवश्य ही बर्बाद हो जाएगा, और समृद्ध बनने के लिए बिना स्वतंत्रता के विनिमय ज़रूरी है. संगति की स्वतंत्रता? लेकिन समाजवादी सिद्धांत के अनुसार, स्वतंत्रता और संगति एक दूसरे से प्रथक हैं क्योंकि लोगों की स्वतंत्रता पर आक्रमण किया जाता है सिर्फ़ उनको जबरन कुछ संगति करवाने के लिए.

जैसा कि आप अब अवश्य ही देख सकते होंगे, कि समाजवादी प्रजातंत्रवादियों की अंतरात्मा इंसानों को कुछ भी स्वतंत्रता की अनुमति नहीं दे सकती, क्योंकि, उनकी स्वयं की प्रवृत्ति के अनुसार वे हर स्थिति में (स्वतंत्रता मिलने पर) हर तरह के पतन और भ्रष्टीकरण की ओर ही अग्रसित होते हैं.

इसलिए हमें ये अनुमान लगाने को छोड़ दिया गया है कि इस परिस्थिति में, किस आधार पर उनके लिए इतनी दृढ़ता से सार्वभौमिक मताधिकार की माँग की जाती है.

संयोजकों के मिथ्याभिमान से एक और सवाल उठता है, जो मैने उनसे अक्सर पूछा है, और जिसका ज़वाब जहाँ तक मुझे पता है, मुझे कभी नहीं मिला है: चूँकि मानवजाति की स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ इतनी खराब हैं कि उनको स्वतंत्रता की अनुमति देना ख़तरे से खाली नहीं है, ऐसा कैसे हो गया कि आयोजकों की प्रवृत्तियाँ हमेशा अच्छी हों? क्या विधायक और उनके प्रतिनिधि मानव जाति का हिस्सा नहीं हैं? क्या उन्हें लगता है कि वे बाकी मानव जाति की तुलना में अलग मिट्टी के बने हैं? वे कहते हैं कि, समाज उसके खुद के ऊपर छोड़ने पर, अवश्यंभावी विनाश की ओर भागता है, क्योंकि इसकी मूल प्रवृत्तियाँ ही विकृत हैं. उनका मानना है कि वे इसको (समाज को) एक बेहतर दिशा देते हैं. इसलिए उन्हें (संयोजकों को) स्वर्ग से बुद्धिमत्ता और सदगुण मिले हैं जो उन्हें मानवजाति से आगे और उपर रखते हैं: उन्हें अपनी इस विशिष्टता का प्रमाण-पत्र दिखाने दीजिए. वे हमारे गडरिये होंगे, और हम उनके भेड़ों के झुंड - यह व्यवस्था ये पहले से सोच के चलती है कि उनमें एक प्राकृतिक उच्चता है वे अधिकार होने की जिनके बारे में हमें पूरा हक़ है कि हम उन्हें यह सिद्ध करने को कहें कि उनके पास इस अधिकार का होना उचित है.

आप यह ज़रूर देख सकते होंगे, कि मैं उनके सामाजिक संयोजन के आविष्कार करने के, इन आविष्कारों का प्रचार, इनकी सिफारिश, और इनको अपने उपर ही लागू करने के प्रयत्न (खुद के खर्चे और ज़ोख़िम उठा कर) करने के अधिकार का विरोध नहीं कर रहा हूँ; लेकिन मैं उनके इन आविष्कारों को हमारे उपर क़ानूनी माध्यम से (यानि ज़बरदस्ती और सार्वजनिक शुल्क के माध्यम से) थोपने के अधिकार का विरोध ज़रूर करता हूँ.

मैं कैबेवादियों (फ्रांसीसी राजनीतिज्ञ, पत्रकार, और लेखक "कैबे" के अनुयायी), प्रौढ़ोंवादियों (फ्रांसीसी राजनीतिज्ञ और दार्शनिक "प्रौढ़ों" के अनुयायी), शिक्षावादियों, और संरक्षणवादियों से अपने-अपने विचारों को त्यागने की ज़िद नहीं करूँगा; मैं सिर्फ़ ये चाहूँगा कि वे यह एक विचार छोड़ दें जो उन सभी में सामान्य है - यानि, हमें (मानवजाति को) ज़बरदस्ती डालना उनके बनाए हुए वर्गों में और उनकी सामाजिक प्रयोगशालाओं के दर्जों में, उनके सदा फूलते जाते बैंकों में, उनकी यूनानी-रोमनी नैतिकता में, और उनके व्यावसायिक बंधनों में. मैं उनसे कहूँगा कि हमें उनकी योजनाओं को आँकनें की अनुज्ञा दें, और हमें उन्हें मानने को मजबूर ना करें अगर हम उन्हें (यानि उनकी योजनाओं को) अपने हित को हानि पहुँचाने वाला पाते हैं या अगर वे योजनाएँ हमारे अंत:करण के प्रतिकूल हैं.

ताक़त की ज़बरदस्ती और शुल्क के सहारे की पूर्वधारणा रखना, उत्पीड़क और अन्यायपूर्ण होने के साथ-साथ इंगित है इस हानिकारक धारणा का भी कि - संयोजक अमोघ है और मानवजाति अक्षम.

और अगर मानवजाति अपने निर्णय करने के लिए भी सक्षम नहीं है, तो वे सार्वभौमिक मताधिकार के बारे में इतनी बातें क्यों करते रहते हैं?

यह विचारों में अंतर्विरोध, दु:ख-पूर्वक कहना पड़ता है कि, तथ्यों तक में भी पाया जाता है, और हालाँकि फ्रांस अपने अधिकार पाने के लिए, या अपनी राजनीतिक माँगें मनवाने के लिए, बाकी सभी राष्ट्रों से आगे रहा है, यह सब फ्रांस को दूसरे राष्ट्रों की तुलना में ज़्यादा शासित होने से, ज़्यादा निर्देशित होने से, ज़्यादा चीज़ें थोपे जाने से, ज़्यादा बंधनों से, और ज़्यादा धोखे खाने से नहीं रोक पाया है. यह राष्ट्र (फ्रांस) बाकी राष्ट्रों में से एक ही है जहाँ क्रांति होने का हमेशा ख़तरा बना रहता है, और जहाँ यह बात (क्रांति होना) पूरी तरह से प्राकृतिक लगती है (कि ऐसा ही होना चाहिए).

जब तक यह विचार रखा जाता है, जो कि हमारे सभी राजनीतिज्ञ स्वीकार करते हैं, और जो (विचार) इतनी ऊर्जा के साथ श्री लुई ब्लॅंक द्वारा इन शब्दों में व्यक्त किया गया है - “समाज अपना संवेग ताक़त से प्राप्त करता है,” जब तक इंसान खुद को कुछ महसूस करने में समर्थ समझते रहेंगे, महसूस करने में तो समर्थ लेकिन फिर भी निष्क्रिय - खुद को स्वयं के विवेक द्वारा उपर उठाने में असमर्थ, किसी नैतिकता की ओर या खुद की भलाई की ओर जाने में असमर्थ, लेकिन साथ-साथ वे क़ानून से सब

कुछ चाहते हैं; दूसरे शब्दों में, एक तरफ जहाँ वे मानते हैं कि राज्य के साथ उनके रिश्ते वही हैं जो भेड़ों के झुंड के गडरिये के साथ होते हैं (यानि जैसे गडरिया भेड़ों के झुंड को चलाता है, वैसे ही राज्य उन्हें चलाएगा, ऐसा वे मानते हैं), यह स्पष्ट है कि ताक़त की ज़िम्मेदारी बहुत प्रचंड होती है. भाग्य और दुर्भाग्य, वैभव और ग़रीबी, बराबरी और असमानता, सभी इसी से (ताक़त से) शुरू होते हैं. सब कुछ इसी को सौंप दिया जाता है, यह सब कुछ करती है, इसलिए यह सब कुछ की ज़वाबदेह भी है. अगर हम खुश हैं तो इसे हमारी कृतज्ञता पाने का अधिकार है; लेकिन अगर हम बुरी हालत में हैं तो सिर्फ़ यही दोषी होगी. वाकई क्या इंसान और संपत्ति, सभी पूरी तरह से इसके हाथों नहीं हैं?

क्या क़ानून सर्वशक्तिमान नहीं है? शैक्षिक एकाधिपत्य स्थापित करते हुए, इसने उन परिवारों के माता-पिताओं की आकांक्षाओं को पूरा करने का बीड़ा उठाया है जिनकी (जिन परिवारों की) स्वतंत्रता को छीन लिया गया है; और अगर इन आकांक्षाओं को पूरा नहीं किया जाता है तो यह किसका दोष है?

उद्योगों को विनयमित करने में, इसने (क़ानून ने) इसको (उद्योगों को) सफल करने और बढ़ाने का बीड़ा उठाया है, नहीं तो इससे (उद्योगों से) उसकी स्वतंत्रता छीन लेना बिल्कुल बेतुकी बात होगी; और अगर उद्योगों को परेशानी उठानी पड़े, तो ये किसकी ग़लती है? व्यापार के पलड़े को शुल्कों के खेल से संतुलित करने के बहाने, यह व्यापार को सफल करने का बीड़ा उठाता है; और अगर, सफलता तो दूर, अगर यह व्यापार बर्बाद हो गया, तो यह किसकी ग़लती है?

अत: राष्ट्र में कोई ऐसा दु:ख नहीं जिसके लिए सरकार स्वत्: ही खुद को ज़िम्मेदार नहीं बना लेती. क्या कोई आश्चर्य है कि हरेक असफलता एक क्रांति लाने की धमकी सी देती है? और उपाय क्या सुझाया जाता है? क़ानून की परिधि, यानि सरकार के दायित्व, को अनिर्धारित सीमा तक बढ़ाते जाना. लेकिन अगर सरकार वेतन बढ़ाने और उसे नियमित करने का दायित्व उठाती है और ऐसा कर पाने में अक्षम रहती है; अगर यह (सरकार) सभी ज़रूरतमंदों की मदद करने का दायित्व उठाती है और असफल रहती है; अगर यह सभी श्रमिकों को काम दिलाने का दायित्व उठाती है और नहीं कर पाती है; अगर यह सभी उधार चाहने वालों को आसानी से पैसे दिलाने का दायित्व उठाती है और नहीं कर पाती है; अगर, उन शब्दों में कहें जो, खेदपूर्वक कहना पड़ता है, श्री दी लमर्टिन (एक फ्रांसीसी लेखक, कवि, और राजनीतिज्ञ) की कलम से निकले हैं, “राज्य, प्रजा को ज्ञान प्रदान करना, उन्हें विकसित करना, विस्तृत करना, शक्तिशाली बनाना, आध्यात्मिक बनाना, और उनकी आत्माओं की शुद्धि

करना, अपना ध्येय समझता है" - और अगर यह इसमें असफल रहता है, तो क्या ये स्वाभाविक नहीं कि, हर एक निराशा के बाद, जो (खेदपूर्वक कहना पड़ता है!) बहुत संभव है, एक अविष्यंभावी क्रांति से कम कुछ भी नहीं होगा?

अब मैं यह कहकर इस विषय का पुनरारंभ करूँगा कि, इस प्रश्न के अर्थशाषत्रीय भाग [4] के तुरंत बाद, और राजनीतिक भाग के पहले, एक प्रमुख सवाल, स्वत: ही प्रस्तुत होता है. वो है ये:

क़ानून क्या है? क़ानून क्या होना चाहिए? इसकी परिधि क्या है? इसकी सीमाएँ क्या हैं? असल में, क़ानून-निर्माता के विशेषाधिकार कहाँ तक सीमित होते हैं?

मुझे ज़वाब देने में कोई हिचक नहीं है, कि क़ानून सार्वजनिक बल है जो अन्याय रोकने के लिए संगठित ओर आयोजित किया गया है - संक्षेप में, क़ानून न्याय है.

यह सत्य नहीं है कि क़ानून-निर्माता का हमारे शरीर और संपत्ति पर पूर्ण-अधिकार है, क्योंकि ये (हमारा शरीर और संपत्ति) पहले से मौज़ूद थे, और क़ानून-निर्माता का काम सिर्फ़ हानि से उनकी सुरक्षा करना है.

यह सच नहीं है कि क़ानून का मिशन हमारी अंतरात्माओं को, हमारे विचारों को, हमारी इच्छाओं, हमारी शिक्षा, हमारे मनोभावों, हमारे काम, हमारे विनिमय, हमारे उपहार, हमारे आनंदों को संतुलित या विनियमित करना है. बल्कि इसका मिशन है किसी के भी अधिकारों को किसी दूसरे के अधिकारों में हस्तक्षेप करने से रोकना, उपरोक्त में से किसी भी मामले में.

क़ानून, चूँकि इसके पास इसके मुख्य प्रतिबंधों को लागू करवाने के लिए शक्ति है, सिर्फ़ शक्ति का अधिकार क्षेत्र रख सकता है, जो कि न्याय है.

और जिस प्रकार हर व्यक्ति को बल प्रयोग करने का अधिकार सिर्फ़ वैध स्व-रक्षा करने की परिस्थिति में होता है, सामूहिक बल, जो कि व्यक्तिगत बल का संगठन-मात्र है, को किसी और ध्येय के लिए इस्तेमाल करना तर्कसंगत नहीं हो सकता.

तत:, क़ानून, सिर्फ़ व्यक्तिगत अधिकारों का संगठन है जो (अधिकार) क़ानून के आने से पहले से ही मौज़ूद थे. क़ानून-न्याय है.

अत:, लोगों को दबाना, या उनकी संपत्ति लूटना (चाहे वो दूसरों की भलाई के लिए ही क्यों ना हो) तो दूर, क़ानून का मिशन लोगों की रक्षा करना है, और उनकी संपत्ति पर उनका अधिकार सुनिश्चित करवाना है.

यह भी नहीं कहा जाना चाहिए, कि जब तक क़ानून सभी तरह की ज़ोर-ज़बरदस्ती से दूर रहता है, तो यह परोपकारी हो सकता है; क्योंकि यह एक अंतर्विरोध होगा. क़ानून हमारे शरीर और संपत्ति को बिना छुए नहीं रह सकता; और अगर यह उनकी रक्षा नहीं करता और अगर यह उन्हें छूता है तो यह अवश्य ही उन पर अतिक्रमण करता है.

क़ानून न्याय है.

इससे ज़्यादा स्पष्ट और सरल, इससे ज़्यादा ठीक से परिभाषित और सीमित, या हर आँख को दिखाई देने वाली और कोई बात नहीं हो सकती; क्योंकि न्याय एक स्थायी मात्रा में होता है, अडिग और अपरिवर्तनीय, और जो ना बढ़ना और ना घटना स्वीकारता है.

अगर आप इस बिंदु से हटे, और क़ानून को धार्मिक, या भाईचारे वाला, बराबरी लाने वाला, औद्योगिक, साहित्यिक, या कलात्मक बनाया, तो बस आप अस्पष्टता और अनिश्चितता में खोए; आप अज्ञात धरातल पर होंगे, एक ज़बरदस्ती का आदर्शलोक, या, उससे भी खराब, बहुत सारे, एक-दूसरे से उलझते और झगड़ते आदर्शलोकों के बीच, जिनमें से हर एक क़ानून को हासिल करने की, और उसे (क़ानून को) आप पर थोपने की पूरी कोशिश कर रहा है; क्योंकि भाईचारे और परोपकार की कोई निश्चित सीमा नहीं होती, जैसी कि न्याय की (निश्चित सीमा) होती है. आप कहाँ पर रुकेंगे? क़ानून कहाँ पर रुकेगा? एक व्यक्ति, श्री दे संत क्रीक (एक फ्रांसीसी सीमा-शुल्क प्रशासक और राजनीतिज्ञ) अपने परोपकार को सिर्फ़ कुछ औद्योगिक वर्गों तक सीमित रखेंगे, और क़ानून से उपभोगताओं की उपेक्षा निर्माताओं के हित में करवाएँगे. दूसरा, जैसे श्री कंसीडरांट (एक फ्रांसीसी आदर्शलोकवादी समाजवादी), श्रमिक वर्ग के काम और मामले उठा लेंगे, और क़ानून द्वारा उनके लिए एक

पूर्व-निर्धारित दर पर कपड़े, मकान, खाना, और ज़िंदगी की हर ज़रूरत दिलवाने की माँग करेंगे. तीसरे, श्री लुई ब्लॅंक कहेंगे, और किसी कारणवश ही कहेंगे, कि यह (निर्माता और श्रमिक वर्ग) अधूरा भ्रातृत्व होगा, और क़ानून को उन्हें श्रम के लिए आवश्यक उपकरण और शिक्षा प्रदान करवानी ही चाहिए. कोई चौथे समीक्षा करेंगे कि ऐसी व्यवस्था फिर भी असमानता की गुंजाइश छोड़ देती है, और क़ानून को सबसे दूर-दराज के गाँवों तक वैभव, साहित्य, कला पहुँचानी चाहिए. यह साम्यवाद की ओर जाने वाली ऊँची और सीधी सड़क है; दूसरे शब्दों में, क़ानून-निर्माण बन जाएगा - जैसा कि आज-कल है ही - हर किसी के सपनों का और हर किसी के लालच का युद्ध-क्षेत्र.

क़ानून न्याय है.

इस प्रस्ताव में हम पेश करते हैं एक सीधी, अडिग सरकार. और मैं किसी को भी ये चुनौती देता हूँ कि वो मुझे बताए कि, क्रांति का विचार, विद्रोह, या यहाँ तक कि एक छोटी सी अशांति का विचार भी, उस सार्वजनिक बल के खिलाफ कहाँ से उठ सकता है जो सिर्फ़ अन्याय को दबाने के लिए इस्तेमाल किया जाता हो. ऐसी व्यवस्था के अंदर, ज़्यादा खुशहाली होगी, और यह खुशहाली ज़्यादा बराबरी से जनता में वितरित होगी; और जहाँ तक उन कष्टों की बात है जो, जब तक इंसानियत है वे उससे अलग नहीं हो सकते, कोई भी सरकार को उन कष्टों के लिए दोषी ठहराने की नहीं सोचेगा, क्योंकि सरकार इस मामले में उतनी ही निर्दोष होगी जितनी वह तापमान में बदलाव के मामले में है. क्या कभी लोग किसी अपील की अदालत के खिलाफ खड़े हुए हैं, या क्या कभी उन्होंने शांति के न्यायाधीशों के खिलाफ धावा बोला है, वेतन की दर स्थापित करने की खातिर, मुफ़्त का उधार, श्रम के उपकरण, सीमा-शुल्क के फ़ायदों, या सामाजिक कार्यशाला की खातिर? वे अच्छी तरह से जानते हैं कि यह मामले शांति के न्यायाधीशों के अधिकार-क्षेत्र से बाहर हैं, और वे जल्द ही ये भी सीख जाएँगे कि ये (मामले) क़ानून की सीमा के अंदर भी इतने नहीं हैं.

लेकिन अगर क़ानून को भाईचारे के सिद्धांत के ऊपर बनाया जाता है, अगर ये उद्घोषणा की जाती है कि सभी अच्छाइयाँ-बुराइयाँ इसी से निकलती हैं - कि यही हर व्यक्ति के दु:ख और हर सामाजिक असमानता का ज़िम्मेदार है - तो आप द्वार खोलते हैं अंतहीन शिकायतों, संतापों, मुश्किलों, और क्रांतियों के लिए.

क़ानून न्याय है.

और यह बहुत विचित्र होगा कि क़ानून सही तौर में कुछ और हो सके! क्या न्याय सही नहीं होता? क्या अधिकार बराबर नहीं होते? कौन से अधिकारों के दम पर क़ानून हस्तक्षेप करके मुझपर श्री मीमेरेल (एक फ्रांसीसी उद्योगपति और राजनीतिज्ञ), दी मेलन (एक फ्रांसीसी राजनीतिज्ञ), थियर्स, या लुई ब्लॅंक की सामाजिक योजनाएँ लागू करवा सकता है, बजाय इन महानुभावों पर मेरी योजनाएँ लगवाने के? क्या ये मान लिया जाय कि प्रकृति ने मुझे पर्याप्त कल्पना-शक्ति, जो एक आदर्शलोक का अविष्कार कर सके, देने की कृपा नहीं की है? क्या ये क़ानून का उत्तरदायित्व है कि इतनी सारी मौजूद सनकों में से किसी एक सनक को चुनना, और फिर सार्वजनिक शक्ति को इस स्पेशल सनक की सेवा में लगा देना?

क़ानून न्याय है.

और यह नहीं कहने दिया जाना चाहिए, जैसा कि सदा कहा जाता है, कि क़ानून, इस अर्थ में, नास्तिक होगा, व्यक्ति-विशेषों के अधीन, और निर्मम, और जो इंसानियत को अपनी छवि में ढाल लेगा. यह एक बेतुका निष्कर्ष है, बिल्कुल सरकारी मूढ़ता के योग्य, जो इंसानियत को क़ानून के भीतर देखता है.

फिर? इसका मतलब कि अगर हम स्वतंत्र हैं, तो क्या हम कार्य करना बंद कर देंगे? इसका मतलब अगर हमें क़ानून से धक्का या प्रोत्साहन नहीं मिला, तो हमें कहीं से भी प्रोत्साहन नहीं मिलेगा? इसका मतलब कि अगर क़ानून ने अपने आप को हमारी शक्तियों के स्वच्छन्द उपयोग की सुनिश्चिति तक ही सीमित रखा, तो क्या हमारी शक्तियों को लकवा मार जाएगा? इससे क्या हम ये तात्पर्य निकालें कि, अगर क़ानून ने हमारे ऊपर धर्मों के कई रूप नहीं थोपे, या मेलजोल के तरीके, श्रम के नियम, विनिमय के निर्देश, और दान-पुण्य की योजनाएँ नहीं थोपीं, को क्या हम सिर के बल सीधे अधर्म, एकाकीपन, अज्ञानता, कंजूसी, और लालच के गड्ढे में जा गिरेंगे? उसके बाद क्या ये होगा, कि हम भगवान की शक्ति और सच्चाई को भी नहीं पहचानेंगे; कि हम एक-दूसरे के साथ रहना बंद कर देंगे, एक-दूसरे की मदद करना, हममें से अभाग्यशाली भाइयों-बहनों को स्नेह और सहायता, प्रकृति के रहस्यों का अध्ययन, और हमारे अपने अस्तित्व में प्रवीणता और परिपक्वता को हासिल करने की इच्छा रखना, बंद कर देंगे? क़ानून न्याय है.

और यह न्याय क़ानून के अंतर्गत ही होगा, सही बात के राज के अंतर्गत, स्वतंत्रता, सुरक्षा, स्थायित्वता, और दायत्वता के प्रभाव के अंतर्गत ही होगा, कि हर इंसान अपनी संपूर्ण अहमियत को प्राप्त करेगा, अपने वज़ूद की सारी गरिमा को प्राप्त करेगा, और मानवता यह सब प्राप्त करेगी व्यवस्थित तरीके से, शांति के साथ - हाँ, धीरे-धीरे, लेकिन निश्चित तौर से - प्राप्त करेगी वह सारी प्रगति जो मानवता के भाग्य में लिखी है.

मुझे विश्वास है कि मेरी सोच सही है; क्योंकि चाहे वो कोई भी सवाल हो जिस पर में तर्क कर रहा हूँ, चाहे धार्मिक या दार्शनिक, राजनीतिक या आर्थिक; चाहे वह सवाल जुड़ा हो (या असर करता हो) सबकी सलामती से, या नैतिकता से, बराबरी से, अधिकारों से, संपत्ति, श्रम, विनिमय, धन, वेतन, कर, जनसंख्या, उधार से या सरकार से, चाहे मैं वैज्ञानिक क्षितिज के किसी भी बिंदु से आरंभ करूँ, मैं हर बार एक ही अंत पर पहुँचूँगा - कि सामाजिक समस्याओं का हल स्वतंत्रता में है.

और क्या मेरे पास अनुभव नहीं है? ज़रा अपनी दृष्टि विश्व की ओर डालिए. सबसे ज़्यादा सुखी, सबसे नैतिक, और सबसे शांत कौन से राष्ट्र हैं? वे जहाँ क़ानून निज़ी कामों में सबसे कम दखलंदाज़ी करता है; जहाँ सरकार की उपस्थिति सबसे कम महसूस की जाती है; जहाँ व्यक्ति-विशेष सर्वाधिक परिधि रखता है, और जहाँ जनता के मत का प्रभाव सर्वाधिक है; जहाँ प्रशासन के कल-पुर्जों का महत्व न्यूनतम है और जहाँ प्रशासन के कल-पुर्ज़े सबसे कम जटिल हैं; जहाँ कर सबसे कम और सबसे कम असमान है (यानि जहाँ कर सब पर बराबर लागू होता है); वहाँ जनता की असंतुष्टता सबसे कम उत्तेजित है और सबसे कम तर्कसंगत है; जहाँ व्यक्ति-विशेष और वर्ग-विशेष का उत्तरदायित्व सबसे सक्रिय है, और परिणामत:, जहाँ अगर नैतिकताएँ उत्तम अवस्था में नहीं हैं तो वे लगातार स्वत: ही ठीक दिशा में चलती जा रही हैं; जहाँ लेन-देन, सभाओं, और मेल-जोल पर सबसे कम बंदिशें हैं; जहाँ श्रम, धन, और उत्पाद सबसे कम कृत्रिम विस्थापनों से उत्पीड़ित किए जाते हैं; जहाँ मानवता सबसे ज़्यादा पूर्णता से स्वयं के प्राकृतिक रास्ते का अवगमन करती है; जहाँ भगवान का विचार इंसानों के आविष्कारों को सबसे ज़्यादा प्रभावित करता है; संक्षेप में, वे राष्ट्र, जो यह समझते हैं कि अधिकारों की सीमा के अंदर-अंदर, सब कुछ, बेहतर बनाए जाने योग्य और स्वैच्छिक इंसानी कार्यों से प्रवाहित होना चाहिए; और जो ये समझते हैं कि क़ानूनन या बल-पूर्वक कुछ भी करने का प्रयास-मात्र भी नहीं किया जाना चाहिए, सिवाय सार्वभौमिक न्याय के क्रियान्वन और संचालन के.

मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचे बिना नहीं रह सकता - कि दुनियाँ में बहुत सारे महान इंसान हैं; बहुत सारे क़ानून-निर्माता, संगठक, समाज के संस्थापक, लोगों के संचालक, राष्ट्र-पिता, वगैरह, वगैरह. कुछ ज़्यादा ही लोग खुद को मानवता से उपर रखते है; मानवता पर शासन और उस पर कृपा करने के लिए; कुछ ज़्यादा ही लोग मानवता की देख-भाल को अपना धंधा ही बना लेते हैं. अब मुझसे कहा जाएगा - "तुम खुद भी तो कितने समय से इसी काम में लगे हुए हो!" बिल्कुल सही कहा. लेकिन ये मानना पड़ेगा कि मैं एकदम दूसरे अभिप्राय से ये सब कह रहा हूँ; और अगर मैं भी सुधारकों में शामिल हूँ तो यह सिर्फ़ उनकी (सुधारकों ही की) पकड़ ढीली करवाने के उद्देश्य से है.

मैं वो नहीं कर रहा हूँ जो वौकॅनसन (एक फ्रांसीसी आविष्कारक और कलाकार) ने उसकी स्व-चालित (ऑटोमेटिक) मशीन के साथ किया, बल्कि वो कर रहा हूँ जो एक शारीरिक गतिविधि का विशेषज्ञ इंसान के ढाँचे के साथ करता है; यानि अध्ययन और सराहना.

मैं इस बारे में उस भावना से काम कर रहा हूँ जिस भावना ने एक प्रसिद्ध यात्री को प्रेरित किया था. उस यात्री ने खुद को एक जंगली प्रजाति के मध्य पाया. वहाँ एक बच्चे का अभी-अभी जन्म हुआ था, और भविष्यकर्ताओं, जादूगरों, और नीम-हकीमों की पूरी-की-पूरी जमात, मय-अंगूठियाँ, अंकुढ़े, और पट्टियाँ, उस बच्चे के इर्द-गिर्द इकट्ठी थी. उनमें से एक ने कहा - "यह बच्चा कभी भी इत्रदान की सुगंध नहीं ले पाएगा, जब तक के मैं इसके नथुने खींच के ना फैला दूं." दूसरा बोला - "ये बहरा ही रह जाएगा जब तक कि मैं इसके कान खींच कर इसके कंधों तक ना ले आऊँ." तीसरे ने कहा - "ये सूर्य की रोशनी कभी नहीं देखेगा जब तक कि मैं इसकी आँखों को तिरछा ना कर दूं." चौथा बोला - "यह कभी भी सीधा खड़ा नहीं हो पाएगा जब तक कि मैं इसके पैर ना मोड़ दूं." पाँचवें ने कहा - "यह कभी सोच नहीं पाएगा जब तक कि मैं इसना सर ना दबाऊँ." **"ठहरो!"** यात्री बोला. "जो भी ऊपरवाला करता है, अच्छा करता है; उससे (ऊपरवाले से) ज़्यादा जानने का ढोंग मत करो; और उसने इस नाज़ुक जीव को अंग दिए हैं, इन अंगों को विकसित तो होने दो, उन्हें व्यायाम से, इस्तेमाल से, अनुभव से, और स्वच्छन्दता से, पुष्ट तो होने दो.

भगवान ने इंसान में वह सब कुछ बोया हुआ है जिसकी इसको (इंसान को) इसका भाग्य सिद्ध करने देने के लिए ज़रूरत होती है. एक होता है - दैविक सामाजिक शारीरिक क्रिया-विज्ञान, और साथ ही एक और होता है - दैविक मानवी शारीरिक क्रिया-विज्ञान. सामाजिक अंगों का विधान ऐसा होता है जो उन्हें स्वतंत्रता की भव्य हवा में सामजस्यपूर्ण और लयबद्ध विकसित होने देता है. तो फिर नीम-हकीमों और आयोजकों को दूर करो! फेंको उनकी अंगूठियाँ, जंजीरें, और उनके अंकुश, और उनके प्लास और पेंचकस! हटाओ उनके कृत्रिम तरीके! दूर करो उनकी सामाजिक प्रयोगशालाएँ, उनकी हुकूमती और शाशकीय सनकें, उनका केंद्रीयकरण, उनके सीमा-शुल्क, उनके विश्वविद्यालय, उनके राजकीय धर्म, उनके मंहगाई बढाने या एकाधिकार बढाने वाले बैंक, उनकी बाधाएँ, उनके नैतिकता के पाठ, और उनकी करों के ज़रिए लाने वाली समानता. और अब, समाज के शरीर को इतनी सारी प्रणालियों और व्यवस्थाओं द्वारा व्यर्थ में आहत करने के बाद, उन्हें वहीं समाप्त होने जाने दो जहाँ से वे शुरू हुई होंगी - सारी प्रणालियों और व्यवस्थाओं को अस्वीकृत करो, और स्वतंत्रता अपनाने की कोशिश करो - स्वतंत्रता, जो कि ऊपरवाले और उसकी रचना पर भरोसा रखने का काम है.

---

1. पहली बार 1850 में प्रकाशित.
2. उत्पादकों की सामान्य परिषद, कृषि और व्यापार, 6 मई, 1850.
3. अगर फ्रांस में सुरक्षा सिर्फ़ एक वर्ग को दी जाती, जैसे कि अभियंताओं को, तो यह इतनी बेतुकी लूट होती कि यह स्थाई नहीं रह पाती. इसलिए हम देखते हैं कि सारे सुरक्षित किए गये धंधे, एक-जुट हो जाते हैं, एक उद्देश्य बनाते हैं, और यहाँ तक कि वे खुद को इस तरह से नियुक्त करते हैं जैसे कि वे राष्ट्रीय श्रम को गले लगाते से दिखे. उनकी सहज-प्रवृत्ति में यह सोच है कि लूट सर्व-व्यापक होने से ढक जाती है.
4. राजनीतिक अर्थव्यवस्था राजनीति से भी पहले आई: राजनीतिक अर्थव्यवस्था को पहले यह खोजना-समझना पड़ा कि क्या प्राकृतिक मानवीय रुझान सामजस्यपूर्ण हैं या अंतर्विरोधी हैं, एक तथ्य जिसको, इससे पहले कि राजनीति सरकार के अधिकार निर्धारित कर सके, समझना और निबटाया जाना ज़रूरी है.